6877

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष—५२ किरण—१ जनवरी-मार्च १९९९

१. चेतन को उद्‌बोधन

२. मूर्ति निर्माण और प्रतिष्ठायें

३. पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्य और सम्प्रदाय भेद
—डॉ जयकुमार जैन

४. अनन्त जिज्ञासाओं के पुंज जुगलकिशोर मुख्तार
—नीरज जैन

५. को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे
—पं. जवाहर लाल, भीण्डर

६. उपनिषदों में दिगम्बरत्व के उल्लेख
—डॉ रमेश चन्द्र जैन

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : ३२५०५२२

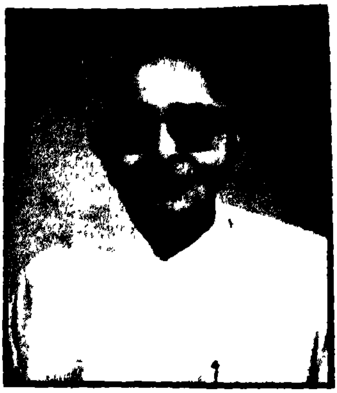

3-9-1913 – 4-2-1999

समर्पित समाज सेवी को नमन

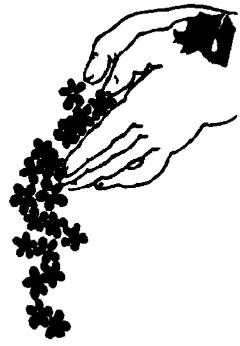

रायबहादुर श्री हरकचन्द जैन पाण्ड्या (रांची) वीर सेवा मन्दिर के आजीवन सदस्य रहे। इस संस्था की स्थापना के समय से ही वे इसकी गतिविधियों में गहरी रुचि रखते थे।

यों तो बिहार अंचल के धर्मनिष्ठ श्रावक के रूप में उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी परन्तु बहुआयामी धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के प्रति उनकी समर्पण भावना ने उन्हें अखिल भारतीय स्तर पर भी आशातीत प्रतिष्ठा दिलाई। उन्होंने तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी के मुकद्दमों में गत पांच दशक से भी अधिक तक दिगम्बरों के हक की पैरवी कुशलतापूर्वक की। साहू अशोक कुमार जैन ने भी शिखरजी विवाद में उनके अनुभवों का लाभ उठाया। हालांकि गत कई वर्षो से वह अस्वस्थ चल रहे थे किन्तु उनके परिश्रम का फल समाज को तब मिला जब साहू अशोक कुमार जैन के नेतृत्व में दिगम्बरों को मुकद्दमें में सफलता मिली।

वैसे तो रायबहादुर हरकचन्द जी दिगम्बर जैन समाज की सभी शीर्षस्थ संस्थाओं के संरक्षक, न्यासी व अध्यक्ष पदों पर आसीन रहे परन्तु एक जागरूक श्रावक के नाते उन्होंने जो योगदान समाज को दिया वह भुलाया नहीं जा सकता। उनकी सेवाओं को रेखांकित करने के लिए ही उन्हें "जैन रत्न" की उपाधि से विभूषित किया गया।

आज उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है परन्तु उनके द्वारा समाज सेवा में स्थापित "मील के पत्थर" युगों-युगों तक सामाजिक कार्यकर्ताओं का पथ प्रदर्शन करते रहेंगे। ऐसी विभूति को वीर सेवा मंदिर की हार्दिक श्रद्धांजलि।

सुभाष जैन
महासचिव, वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली 2

अनेकान्त

वर्ष ५२	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	जनवरी–मार्च
किरण १	वी.नि.स. २५२५ वि.स. २०५५–५६	१९९९

चेतन को उद्‌बोधन

वे कोई निपट अनारी देख्या आतम राम।।

जिन सौं मिलना फेर बिछरना तिन सौ कैसी यारी।

जिन कार्मों में दुख पावे है तिन सौ प्रीत करारी

– वे कोई ।।१।।

बाहिर चतुर मूढ़ता घर में लाज सवै परिहारी।

ठग सों नेह बैग साधुन सों ये बातें विस्तारी।।

– वे कोई ।।२।।

सिंहडा (पिंजरा) भीतर सुख मानै, अक्कल सबै विसारी।

जा तरु आग लगी चारो दिस, बैठ रह्यो[1] तिहडारी।।

– वे कोई ।।३।।

हाड मांस लोह की थैली तामैं चेतनधारी।

द्यानत तीन लोक को ठाकुर क्यों हो रह्यौ भिखारी।।

– वे कोई ।।४।।

मूर्ति निर्माण और प्रतिष्ठायें

प्रतिष्ठा शब्द अपने आप में बड़ा रोचक है। उसमें भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा। ऐसा संयोग भाग्य से ही मिलता है, जिसमें जिनेन्द्र भगवान के पंचकल्याणक तो होते ही हैं—कराने वाले पंचों का भी लगे हाथ कल्याण हो जाता है। प्रतिष्ठा मिलती है सो अलग। आखिर क्यों न हो, जब यह शब्द ही पंचकल्याणक है। बड़भागी हैं वे लोग जिनके पंचकल्याणक कराने के भाव होते हैं।

आजकल समाज में नित नए पंचकल्याणकों और जिनबिम्ब प्रतिष्ठा होने के समाचार मिलते रहते हैं। अतीतकाल में पंचकल्याणक कराये जाने के पीछे यह प्रबलभाव होता था कि इस आयोजन के माध्यम से देवदर्शन-पूजन का प्रचार होगा और सांसारिक विषय-कषायों से कुछ प्रवृत्ति हटेगी, परन्तु अब पंचकल्याणकों की जो रूपरेखा बनायी जाती है और उसके आयोजन को लेकर जो प्रचार-प्रसार होते हैं, वे पंचकल्याणकों के उद्देश्यों को कितना पूरा करते हैं—यह चिन्तनीय है। एक ओर जहाँ हमारे प्राचीन तीर्थ क्षेत्र की मूर्तियां और मंदिर समुचित रख-रखाव, देखभाल और संरक्षण की बाट जोह रहे हों, वहीं नित्य नयी मूर्ति की मात्र स्थापना करके स्वयं को गौरवशाली और पुण्यार्जक होने का दिखावा पाल रहे हों, यह खेद की बात है। इतना ही नहीं, आश्चर्य तो तब होता है जब इन पंचकल्याणकों को विधिवत् पूर्ण परिग्रह त्यागी मुनि आचार्य अपना पावन सान्निध्य प्रदान करते हैं और जिनके चित्र लेमिनेटेड बृहद्काय पोस्टरों में छापकर उनका प्रचार किया जाता है। वे पोस्टर एक-दो दिन बाद पैरों तले या कूड़ेदान में पड़कर धूल-धूसरित होते हैं। उनकी इस अवमानना से हमारी श्रद्धा को पीड़ा पहुँचती है। ऐसे में लगता है कि हमारे पूर्वज लोग आमंत्रण पत्रिका में मात्र आयोजन तिथि तथा कार्यक्रमों की सूचना सहित निमन्त्रण देकर कितना विवेकशील और अच्छा काम करते थे।

आधुनिकता की रौ में पड़कर हमने नए-नए साधनों को अपना तो लिया है, परन्तु उनकी आगम और परम्परा के सन्दर्भ में क्या उपयोगिता या सार्थकता है। इस पर शायद ही हमारा ध्यान जाता हो। अभी हमें शिखर जी क्षेत्र पर तीस चौबीसी पंचकल्याणकों की पत्रिका मिली है। उसे हमने ध्यान से पढ़ा। वस्तुतः तीर्थाधिराज शाश्वत तीर्थक्षेत्र शिखरजी के प्रति हमारे मन में अगाढ़ श्रद्धा है और उसकी भाव-वन्दना से मुक्ति का मार्ग खुलता है—ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है। इस सिद्ध क्षेत्र में तीर्थकरों के चरण चिह्न हैं, जिनके दर्शनकर सभी कृतकृत्य

होते हैं। ऐसे पावन क्षेत्र में मूर्तियों की स्थापना का क्या औचित्य है? जहाँ पूरी समाज मिलकर भी 11 अंग 14 पूर्व के धारी—पूज्य श्री गौतम गणधर की मूर्ति रचना की बात नहीं सोच सकी और वह केवल चरण स्थापन कर श्रद्धावनत बनी रही, वहाँ तीस-चौबीसी के साथ-साथ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की प्रतिमा का निर्मित्त होना अपूर्व और आश्चर्यजनक कार्य है। यदि साधुओं की मूर्ति-निर्माण का परम्परा या आगम में विधान होता तो पर्वत पर असंख्य कोडा-कोड़ी मुनियों की मूर्तियां होती और वहाँ आज तिल रखने की भी जगह न होती। विडम्बना तो यह है कि मुक्तात्मा गुरुओं की मूर्तियाँ तो बनी नहीं और अब मुनियों की मूर्तियाँ बनायी जा रही हैं। शायद हमारे पूर्वजों ने मुनियों की मूर्तियाँ बनाने और उनकी प्रतिष्ठा कराने का कार्य आजकल के आधुनिक श्रावकों के लिए रख छोड़ा होगा, जिसे पूरा किया जा रहा है। यदि यही सिलसिला चलता रहा तो एक समय ऐसा भी आयेगा जब पूरा पहाड़ मूर्तियों से अटा पड़ा होगा। समाधिस्थल के लोकार्पण की सूचना तो सर्वथा नवीन बात लगी जो पहले कभी न देखी न सुनी गई। अस्तु, जो हो जाय थोड़ा है।

इतना ही नहीं, जन्माभिषेक के लिये कूपन सिस्टम के अनुसार 100रु. मूल्य के सौभाग्यशाली कूपन बेचे जाने की योजना बनी है। जिनके कूपन निकलेंगे, वे कूपन तो भाग्यशाली कहलायेंगे। ऐसे में अभिषेक से वंचित कूपन धारी सौभाग्यशाली कैसे होंगे? क्या कूपन लाटरी का पर्याय नहीं कहलायेगी? क्या इस तरह का कूपन सिस्टम जुआ नहीं है? समाज विचार करे कि सौभाग्यशाली 108 ही क्यों? इसके स्थान पर यदि नियम गृहीता श्रावक को अभिषेक योग्य माना जाता तो अधिक उपयुक्त होता जैसे रात्रिभोजन त्यागी, सप्तव्यसन त्यागी, चर्म निर्मित वस्तुओं का त्यागी, मांसाहार त्यागी, मद्य त्यागी, छना जल सेवन—नित्य देवदर्शन का नियम लेना अभिषेक के लिए अनिवार्य होता तो एक ओर श्रावकों में सद् आचरण के प्रति रुझान बढ़ता तो दूसरी ओर श्रावकों और भावी पंचकल्याणकों के लिए एक आदर्श उपस्थित किया जा सकता था। पैसे के लिए बोली भी बन्द होनी चाहिए। हमारे सेठ बड़े दानी हैं। सुना है पहिले एक ही सेठ समस्त कार्य संपन्न कराता था—फिर अब तो कई सेठ मिलकर आयोजन कराते हैं। फिर पैसे की कमी क्यों?

हमें विश्वास है कि प्रतिष्ठापकों और आयोजकों ने इन 720 मूर्तियों के नियमित पूजा-प्रक्षाल की समुचित और ठोस व्यवस्था भी अवश्य ही की होगी।

—सम्पादक

पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्य और सम्प्रदाय भेद

–डॉ. जयकुमार जैन

भारतवर्ष के धार्मिक जीवन में जिन महनीय विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें जैन धर्म के तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ अन्यतम हैं। यही कारण है कि भारत की सभी आर्य एवं आर्येतर भाषाओं में पार्श्वनाथ के जीवनचरित पर बहुत लिखा गया है। पार्श्वनाथ का जीवनचरित भगवान् महावीर के समान ही अत्यन्त रोचक एवं घटना प्रधान है। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता अब असंदिग्ध स्वीकार कर ली गई है, अतः उसकी चर्चा अब सामयिक प्रतीत नहीं हो रही है।

दिगम्बर परम्परा में पार्श्वनाथ भगवान् के चरित के कुछ सूत्र सर्वप्रथम आचार्य यतिवृषभ द्वारा विरचित प्राकृत भाषा में निबद्ध तिलोयपण्णत्ति में दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि यह करणानुयोग का ग्रन्थ है। अतः इसका मुख्य विषय लोकालोक विभाग, युगपरिवर्तन चतुर्गति आदि का वर्णन करना है। किन्तु दिगम्बर जैन वाङ्मय के श्रुतांग से सम्बन्ध रखने के कारण इसमें ६३ शलाका पुरुषों का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

तिलोयपण्णत्ति में पार्श्वनाथ के पिता का नाम हयसेन तथा माता का नाम वर्मिला आया है।[1] हयसेन प्रचलित नाम अश्वसेन का ही पर्यायवाची है। क्योंकि हय का अर्थ अश्व है और प्राचीन संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में इस तरह के उल्लेखों की परम्परा रही है। दिगम्बर परम्परा के गुणभद्रकृत उत्तरपुराण[2] तथा पुष्पदन्तकृत महापुराण[3] में पिता का नाम विश्वसेन आया है, जो विचारणीय है, क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र अश्वसेन नाम का ही उल्लेख मिला है। इसी प्रकार तीर्थकर पार्श्वनाथ की माता का नाम तिलोयपण्णत्ति में वर्मिला (वम्मिला)[4] तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों एवं उत्तरपुराण एवं पुष्पदन्तकृत

महापुराण को छोड़कर शेष दिगम्बर ग्रन्थों में वामा आया है गुणभद्रकृत उत्तरपुराण[५] तथा पुष्पदन्तकृत महापुराण[६] में उनकी माता का नाम ब्राह्मी उल्लिखित हुआ है। यह भिन्नता कैसे आई? इसका कोई स्पष्ट कारण प्रतीत नहीं होता है। पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ था तथा उनका गोत्र काश्यप था—यह बात सभी को एकमत से स्वीकार्य है, किन्तु पार्श्वनाथ का वंश क्या था? इस विषय में परम्परागत भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा उन्हें इक्ष्वाकु वंश[७] का मानती है, जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ उग्रवंशीय[८] थे।

तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म पौष कृष्णा एकादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में हुआ था।[९] सभी दिगम्बर परम्परा के पार्श्वनाथ विषयक साहित्य में उनकी यही जन्मतिथि उल्लिखित है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म पौष कृष्णा दशमी की मध्यरात्रि को माना गया है। शीलांककृत 'चउपन्नमहापुरिसचरियं' में भी यही तिथि स्वीकारते हुए विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर उनका जन्म कहा गया है। हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशालाकापुरुष चरित में तथा पद्मसुन्दरसूरिकृत श्रीपार्श्वनाथचरित में भी पौष कृष्णा दशमी को ही पार्श्वनाथ का जन्म माना गया है।[१०] स्पष्ट है कि यह मतवैभिन्य कदाचित् तिथि के क्षयाक्षय या रात्रि के मध्यभाग में तिथि की अलग-अलग मान्यता के अनुसार हुआ हो।

पार्श्व नाम का कारण बताते हुए आवश्यक निर्युक्ति, कल्पसूत्र, हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित तथा पद्मसुन्दरकृत श्रीपार्श्वनाथचरित में कहा गया है कि उनकी माता ने गर्भकाल में अपने पास में एक सर्प को देखा था, अतः उनका नाम पार्श्व रखा गया। गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण तथा पुष्पदन्तकृत महापुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्व रखा था।[११] पार्श्व नाम रखे जाने का कोई कारण निर्दिष्ट नहीं किया गया है।

पार्श्वनाथ के विवाह के प्रसंग में परम्परागत मतवैभिन्य है तिलोयपण्णत्ति के अनुसार उन्होंने कुमारकाल में ही तप को ग्रहण किया था।[12] अर्थात् उन्होंने विवाह नहीं किया। तिलोयपण्णत्ति एवं दिगम्बर परम्परा के किसी

भी ग्रन्थ में पार्श्वनाथ के विवाह का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन उल्लेख भी भगवान् पार्श्वनाथ के विवाह के बाधक हैं। यद्यपि समवायांगसूत्र में पार्श्वनाथ के विवाह का प्रसंग उपस्थित ही नहीं हुआ है, किन्तु वहाँ का यह कथन कि उन्होंने कुमारावस्था में दीक्षा धारण की थी, पार्श्वनाथ के बालयति होने का ही साधक है। आवश्यकनिर्युक्ति में तो स्पष्ट उल्लेख है कि पार्श्वनाथ अविवाहित रहे थे। वहाँ कहा गया है –

'वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो।।
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु।
न य इत्थियाभिसेआ कुमारवासम्मि पव्वइण।।"[१३]

उपर्युक्त उदाहरण की चतुर्थ पंक्ति में तो एकदम स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पार्श्वनाथ ने स्त्री और अभिषेक के बिना कुमारावस्था में प्रव्रज्या ग्रहण की।

जब श्वेताम्बर परम्परा में बाद में चलकर पार्श्वनाथ को साम्प्रदायिक भेद बुद्धि के कारण विवाहित माना जाने लगा तो मलयगिरि और हरिभद्र सूरि ने उक्त गाथाओं का अर्थ करते समय 'न य इत्थियाभिसेया' के स्थान पर 'न य इच्छियाभिसेया' पाठ परिवर्तित कर दिया तथा यह अर्थ माना कि उन्होंने अभिषेक की इच्छा नहीं की। उन्होंने विवाह के निषेध वाले प्रसंग को अन्य रूप करके विवाह का प्रसंग ही नहीं रहने दिया। और आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि आवश्यकचूर्णिकार ने इन गाथाओं की व्याख्या करना ही छोड़ दिया है। इस दुविधा का प्रभाव सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र पर भी रहा। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भगवान् वासुपूज्य का चरित्र लिखते समय उन्होंने मल्लि, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ को भी अविवाहित बतलाया है। उन्होंने लिखा है –

'मल्लिः नेमिः पार्श्व इति भाविनोऽपि त्रयो जिनाः।
अकृतोद्वाहसाम्राज्याः प्रव्रजिष्यन्ति मुक्तये।।
श्रीवीरश्चरमार्हन्नीषद्भोग्येण कर्मणा।
कृतोद्वाहोऽकृतराज्यः प्रविष्यति सेत्स्यति।।"[१४]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हेमचन्द्राचार्य ने पार्श्वनाथ को अकृतोद्वाह (अविवाहित) तथा महावीर को कृतोद्वाह (विवाहित) माना। किन्तु जब वे ही पार्श्वनाथ का चरित्र लिखने लगे तो उन्हें सम्प्रदाय व्यामोह जाग उठा तथा उन्होंने पार्श्चनाथ को विवाहित मानने का स्ववदतोव्याघात प्रयास किया।[१५] शीलांक ने जरूर चउपन्नमहापुरिसचरियं में स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रसेनजित् राजा ने अपनी प्रभावती नाम पुत्री पार्श्व को दी थी। पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर ग्रन्थकार इसी परम्परा को अपनाते रहे।

तीर्थकर पार्श्वनाथ ने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की थी। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार यह तिथि माघ शुक्ला एकादशी का पूर्वाह्न थी। उस समय भी विशाखा नक्षत्र का योग था।[१६] गुणभ्रदकृत उत्तरपुराण और पुष्पदन्तकृत महापुराण में भी यही दीक्षातिथि मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र में त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में तथा पद्मसुन्दर ने श्रीपार्श्वनाथ चरित में पार्श्वनाथ की दीक्षातिथि पौषकृष्ण एकादशी उल्लिखित की है।[१७]

सम्पूर्ण श्वेताम्बर परम्परा पार्श्वनाथ के केवल ज्ञान की तिथि चैत्र कृष्णा चतुर्थी मानती है। दिगम्वर परम्परा के तिलोयपण्णत्ति में भी कहा गया है कि दीक्षा ग्रहण करने के चार माह पश्चात् चैत्र कृष्णा चतुर्थी की पूर्वाह्न में विशाखा नक्षत्र के योग में पार्श्व प्रभु को केवलज्ञान हुआ।[१८] किन्तु गुणभद्रकृत उत्तरपुराण और पुष्पदन्तकृत महापुराण में पार्श्वनाथ भगवान् के केवलज्ञान प्राप्ति की तिथि चैत्र कृष्णा त्रयोदशी कही गई है।[१९] एक ही परम्परा में भी यह अन्तर कैसे आया? यह एक विचारणीय बिन्दु है।

पार्श्वनाथ भगवान् की कुल आयु १०० वर्ष थी[२०], जिसमें ३० वर्ष उनका कुमार काल रहा था तथा ७० वर्ष दीक्षित काल रहा। उनके प्रथम शिष्य का नाम श्वेताम्बर परम्परा में आर्यदत्त आया है तथा दिगम्बर परम्परा में स्वयंभू। इसी तरह प्रथम शिष्या का नाम श्वेताम्बर परम्परा में पुष्प-चूला आया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में सुलोचना। दिगम्बर परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथ की निर्वाणतिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा उनकी निर्वाणतिथि श्रावण शुक्ला अष्टमी मानती है। इन सम्प्रदायगत

मतभेदों के मूल तक पहुँचने का प्रयास अपेक्षित है।

जैन मान्यतानुसार पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बीत जाने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। उत्तरपुराण में गुणभद्राचार्य ने लिखा है –

'पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पञ्चाशत् द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान्।।'[२१]

वीरनिर्वाण सम्वत् और ईस्वी सन् में ५२७ वर्ष का अन्तर है। तीर्थंकर महावीर की आयु कुछ कम बहत्तर वर्ष की थी। वहीं कहा गया है –

'द्वासप्ततिसमाः किञ्चिदूनास्तास्यायुषः स्थितिः।'[२२]

अतएव ५२७ + ७२ = ५९९ वर्ष ईस्वी पूर्व में भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। भगवान महावीर के जन्म के २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ५९९ + २५० = ८४९ वर्ष ईस्वी पूर्व में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण और उससे १०० वर्ष पूर्व अर्थात् ९४९ ईस्वी पूर्व में उनका जन्म हुआ था। इस प्रकार दिगम्बराचार्य गुणभद्र के अनुसार पार्श्वप्रभु का जन्म ईस्वी पूर्व दसवीं शताब्दी का मध्य तथा निर्वाण ईस्वी पूर्व नौवीं शताब्दी का मध्य ठहरता है। आवश्यक निर्युक्ति की मलयगिरिवृत्ति के अनुसार भी लगभग यही काल निकलता है।

पार्श्वनाथ का तीर्थकाल २५० वर्ष माना है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को स्वीकार्य है। तिलोयपण्णत्ति में उल्लेख है कि भगवान् पार्श्वनाथ बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के ८४६५० वर्ष बाद और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के २७८ वर्ष पहले उत्पन्न हुये थे।[२३] इस आधार पर भी उपर्युक्त काल समीचीन सिद्ध होता है। क्योंकि यह २८ वर्ष का अन्तर महावीर की ७२ वर्ष की आयु से पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की होने के कारण है।

एस. सी. रायचौधरी ने लिखा है कि जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्मकाल ८७७ ईस्वी पूर्व और निर्वाण काल ७७७ ईस्वी पूर्व है। यह काल महावीर के निर्वाण से पार्श्वनाथ के निर्वाण में २५० वर्ष का अन्तर मानने पर निकलता है। श्री पण्डित जुगलकिशोर मुख्त्यार जी भी महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ का निर्वाण मानते हैं।[२४] यतः यह तथ्य सुस्पष्ट

नहीं है कि यह अन्तर पार्श्वनाथ के निर्वाण और महावीर के जन्म के मध्य का है या फिर पार्श्वनाथ के निर्वाण और महावीर के निर्वाण के मध्य का है। अतः उक्त दोनों प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख प्रायः विद्वानों ने किया है। मुनि नगराज जी ने भी दोनों के निर्वाण के बीच २५० वर्ष का अन्तर मानकर पार्श्वनाथ का निर्वाण ७७७ ई.पू. (५२७ ई.पू. + २५० ई.पू. = ७७७ ई.पू.) माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'आगम और त्रिपिटक एक अनु०' में इसकी विस्तार से चर्चा की है।[२५]

रीडर संस्कृत विभाग
एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फनगर

सन्दर्भ :

१ तिलोयपण्णत्ति, चउत्थो महाधियागे, गाथा ५४८
२ उत्तरपुराण, ७३/
३ महापुराण
४ तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५४८
५ उत्तरपुराण, ७३/
६ महापुराण
७ द्रष्टव्य–कल्पसूत्र, शीलाककृत चउपन्नमहापुरिसचरिय, हेमकृत, त्रिष० आदि।
८ द्रष्टव्य–गुणभद्रकृत उत्तरपुराण एव पुरुषदन्तकृत महापुराण।
९ तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५४८
१० द्रष्टव्य–कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, श्रीपार्श्वनाथचरित आदि।
११ उत्तरपुराण, ७३/
१२ तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५८४
१३ आवश्यक निर्युक्ति (आगमोदय समिति बम्बई), २२१-२२२ पृ० १३६
१४ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०३-१०४
१५ द्रष्टव्य–वही, पर्व ९ सर्ग ३
१६ तिलोयपण्णत्ति, गाथा ६६६
१७ श्रीपार्श्वनाथचरित, पञ्चमसर्ग, श्लोक ९२
१८. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ७००
१९ उत्तरपुराण ७३/ एव महापुराण
२० तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५८२
२१. उत्तरपुराण, ७४/२७९
२२ वही, २४/२८० का उत्तरार्द्ध
२३ तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५७६-५७७
२४ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ३१
२५. द्रष्टव्य–'आगम और त्रिपिटक · एक अनुशीलन

अनन्त जिज्ञासाओं के पुंज जुगलकिशोर मुख्तार

–नीरज जैन

बीसवीं सदी का पहला चरण एक दृष्टि से, जैन संस्कृति के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण माना जायेगा कि उसी कालखण्ड में जैन इतिहास का नाम लेने वाले विद्वानों का आविर्भाव हुआ और इसी अवधि में जैन साहित्य के पुनरुद्धार का कार्य प्रारम्भ हुआ। जैन आगम और साहित्य को यंत्रों द्वारा मुद्रित करके प्रसारित करने की पद्धति भी लगभग उसी समयावधि में प्रारम्भ हुई, यद्यपि इसके प्रयास कुछ पूर्व ही प्रारम्भ हो चुके थे।

सत्तर-पचहत्तर साल पहले का वह युग सामाजिक परिस्थितियों के हिसाब से कुछ गौरवपूर्ण या महिमा-मण्डित युग कहलाने के योग्य नहीं कहा जा सकता। आमतौर पर समाज में अशिक्षा का अंधकार फैल रहा था और वह बुरी तरह रूढ़ियों के शिकंजों में जकड़ा हुआ समाज था। उस समाज में नारी की स्थिति तो अत्यंत दयनीय थी। कन्या को पाठशाला भेजना छठवां पाप माना जाता था और "कन्या-विक्रय" की बलिवेदी पर दस-बारह साल की मासूम लड़कियाँ, पचपन-साठ साल तक के बूढ़े लोगों के साथ, विवाह के माध्यम से आजीवन-अभिशाप भोगने के लिये विवश थीं।

ऐसी दयनीय परिस्थितियों के बीच, शताब्दी के उसी प्रथम चरण में, जैन समाज, संस्कृति और साहित्य के पुनरुद्धार की पृष्ठ-भूमि तैयार हुई और कुछ ऐसे उद्धारकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपना सारा जीवन होमकर अपनी-अपनी निश्चित दिशाओं में, और निश्चित क्षेत्रों में, ऐसे महत्वपूर्ण कार्य किये जो आज शताब्दी के अंतिम वर्ष में भी, मील के पत्थर की तरह हमारे मार्ग-दर्शक हैं और प्रेरणा-स्रोत भी बने हुए हैं। ऐसे महापुरुषों में पुण्यश्लोक की तरह प्रतिष्ठित एक नाम था हमारे परम आदरणीय श्री

जुगलकिशोर जी मुख्तार साहब का।

अदम्य और अपराजेय व्यक्तित्व

मुख्तार साहब बचपन से ही साहसी और अत्यंत लगनशील, कर्मठ व्यक्तित्व के धनी थे। कहा जाता है कि शायर, सिंह और सपूत लीक छोड़कर, अपना मार्ग आप बनाते हुए चलते हैं, इस आधार पर कहा जा सकता है कि जुगलकिशोर मुख्तार एक ऐसे ही सपूत का नाम था। सैकड़ों सपूत मिलकर भी जिसकी बराबरी न कर पायें, ऐसा सूपत। जैन इतिहास, साहित्य और संस्कृति के बारे में उनके मन में अनन्त जिज्ञासाएं थीं और उन्हीं के समाधान में वे जीवन भर पूरी तन्मयता, पूरी ईमानदारी तथा पूरी निस्पृहता के साथ लगे रहे। विघ्न-बाधाएं कभी उन्हें अपने लक्ष्य से विमुख नहीं कर पाई। असहायपने का अहसास, या यात्रा-पथ का अकेलापन उन्हें कभी अनुत्साहित नहीं कर पाया। उनके संकल्प सदा अदम्य रहे और उनका सादा-सा व्यक्तित्व हर हाल मे अपराजेय बना रहा।

यदि हमें बहुत संक्षेप में मुख्तार साहब के जीवन-दर्शन को रेखांकित करना हो तो हम यह कह सकते हैं कि उनकी साधना एक ओर निराकार की आराधरना में निहित थी और दूसरी ओर वे साकार के उपासक भी थे। निराकर आराध्य के रूप में उन्होंने "अनेकान्त" को अपना आदर्श बनाया था और साकार उपासना के क्षेत्र में स्वामी समंतभद्र उनके उपास्य देवता थे। मुझे तो लगता है कि भगवान महावीर स्वामी के बाद, मुख्तार साहब के लिये, स्वामी समंतभद्र का ही स्थान था। समंतभद्र की चर्चा और गुणानुवाद करते वे कभी थकते नहीं थे और उन पूज्य आचार्य के स्मरण मात्र से उनके नेत्रों से प्रेम के अश्रु प्रवाहित होने लगते थे। अपने आदर्श-पुरुष के प्रति मुख्तार साहब की इस प्रगल्भता ओर इस कोमल भावुकता का साक्षात्कार मुझे अनेक बार हुआ है। उस समय उनकी भाव-विभोरता देखते ही बनती थी। वह किसी भी प्रकार कहने या लिखने बताने की बात नहीं है।

मुख्तार साहब का कृतित्व दर्जनों ग्रन्थों और सैकड़ों शोधपरक लेखों के रूप में हमें उपलब्ध है, पर मैं ऐसा समझता हूं कि गमक-गुरु आचार्यश्री समंतभद्रस्वामी के दिव्यावदान को जिन पृष्ठों पर उन्होंने बिखेरा है, वे पृष्ठ

जुगलकिशोर मुख्तार के हृदय का प्रतिबिम्ब हैं, तथा समंतभद्र आश्रम, अनेकान्त-पत्रिका और वीर-सेवा मन्दिर के रूप में उनका मस्तिष्क प्रतिबिम्बित हुआ है। अनेकान्त के प्रथम वर्ष में प्रवेशांक के प्रथम पृष्ठ पर उन्होंने अपनी जो "कामना" लिपिबद्ध की थी वह पाँच दोहों के कलेवर में बंधा हुआ उनका समग्र जीवन-दर्शन ही है –

परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण,
"अनेकान्त" सत्सूर्य सो, करो जगत-कल्याण।

"अनेकान्त" रवि-किरण से, तम-अज्ञान विनाश,
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश।

कुनय-कदाग्रह ना रहे, रहे न मिथ्याचार,
तेज देख भागें सभी, दम्भी-शठ-बटमार।

सूख जायें दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार,
सद्भावों का लोक में, हो विकसित संसार।

शोधन-मथन विरोध का, हुआ करे अविराम,
प्रेमपगे रल-मिल सभी करें कर्म निष्काम।

इतिहास और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिये उनके मन में क्या वरीयता थी इसका परिचय इसी से मिलता है कि "अनेकान्त" के उस प्रवेशांक का पहला लेख मुख्तार साहब का वह सुप्रसिद्ध शोध लेख है जिसके आधार पर बाद में अनेक पुस्तकों का प्रणयन हुआ। उस लेख का शीर्षक है – "भगवान महावीर और उनका समय"। चौबीस पृष्ठों के इस आलेख में उन्होंने भगवान महावीर के जीवन-रस की विविध धाराओं को अद्भुत संतुलन और अपूर्व सामंजस्य के साथ प्रवाहित किया है जो मुख्तारजी के लेखन-कौशल का स्पष्ट प्रमाण है। इस लेख में "महावीर-परिचय, देशकाल की परिस्थिति, महावीर का उद्धार कार्य, वीर-शासन की विशेषताएं, महावीर-सन्देश और महावीर का समय आदि अनेक उपशीर्षकों में बाँधकर उन्होंने अपने चिन्तन को सुनिश्चित आकार प्रदान किया है।

"अनेकान्त" के प्रति मुख्तार साहब की निष्ठा के बारे में हम जितना भी कहेंगे, वह थोड़ा ही होगा। उसकी प्रवेशांक में महावीर संबंधी लेख के बाद अनेकान्त पर विस्तृत सामग्री उन्होंने प्रकाशित की है। अनेकान्त-पत्रिका का प्रवेशांक निश्चित ही एक ऐसा बहुमूल्य और महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है जो मुख्तार साहब की समग्र भावनाओं और संकल्पों को अधिकृत रूप से रूपायित करता है।

अनेकान्त : साध्य भी और साधन भी –

अनेकान्त विद्या पर मुख्तार साहब ने बहुत गम्भीरतापूर्वक और गहराई से विचार किया था। यह अकारण नहीं था कि उन्होंने अपनी पत्रिका का नाम "अनेकान्त" रखा। उसके पीछे उनके मन की आस्था थी जो अनेकान्त को जीवन-निर्माण की संहिता के रूप में स्वीकार कर रही थी। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि—"चिन्तन प्रधान तपस्या ने भगवान महावीर को अनेकान्त दृष्टि सुझाई। उनका "सत्य-शोधन" का संकल्प पूरा हुआ और उन्होंने उस अनेकाप्तदृष्टि की चाबी से वैयक्तिक और समष्टिगत जीवन की व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोलकर उनका समाधान प्राप्त किया। उनकी अनेकान्तदृष्टि की शर्ते इस प्रकार हैं –

१. राग और द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत नहीं होना, अर्थात् तेजस्वी माध्यस्थ-भाव रखना।
२. जब तक मध्यस्थभाव का पूर्ण विकास न हो, तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।
३. कैसे भी विरोधी भासमान पक्ष से कभी घबराना नहीं। अपने पक्ष की तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना और अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्ष की तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।
४. अपने तथा दूसरों के अनुभवों में से जो-जो अंश ठीक जचें, चाहे वे विरोधी के ही क्यों न प्रतीत हों, उन सबका विवेक-प्रज्ञा से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और अनुभव बढ़ने पर, पूर्व के समन्वय में जहां गलती मालूम हो वहीं, मिथ्याभिमान छोड़कर सुधार करना और इसी क्रम से आगे बढ़ना।

—अनेकान्त प्रवेशांक पृ. 21

जैन पत्रिकाओं के इतिहास का वह ऐसा संक्रान्तिकाल था जब "जैन हितैषी" का प्रकाशन बंद हो चुका था और जैन समाज में एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र की आवश्यकता महसूस हो रही थी। सिद्धान्त विषयक पत्र की आवश्यकता तो उससे भी पहले से महसूस की जा रही थी। इन दोनों आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए मुख्तार साहब ने लगभग सत्तर साल पहले, विक्रम संवत १९८६, ईस्वी सन् १९२९ में अपने समंतभद्र आश्रम से "अनेकान्त" पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। अनेक वर्षो तक उन्हें सम्पादक, प्रूफ रीडर, डिस्पैचर और हिसाब रखने वाले अकाउण्टेण्ट आदि के सारे काम स्वयं ही करने पड़े।

अनेकान्त के लिये आर्थिक सहयोग प्राप्त करना भी मुख्तारजी की प्रबल समस्या रही। प्रथम वर्ष ही प्राप्ति से डेवढ़ा व्यय हुआ। अंतिम अंक में उन्होंने लिखा था—"वर्ष भर की कुल आमदनी १६७८/- हुई और खर्च २६००/- हुआ। इस प्रकार पहले ही वर्ष ९२२/- का नुकसान उठाना पड़ा। इस पर अपनी चिन्ता जताते हुए मुख्तारजी ने लिखा—

—"अनेकान्त को अभी तक किसी सहायक महानुभाव का सहयोग, प्राप्त नहीं है। ...जैन समाज का यदि अच्छा होना है तो जरूर किसी न किसी महानुभाव के हृदय में इसकी ठोस सहायता का भाव उदित होगा, ऐसा मेरा अंतःकरण कहता है। देखता हूं इस घाटे को पूरा करने के लिये कौन उदार महाशय अपना हाथ बढ़ाते हैं और मुझे प्रोत्साहित करते हैं। यदि नौ सज्जन सौ-सौ रुपया भी दे दें तो यह घाटा सहज ही पूरा हो सकता है।" —प्रथम वर्ष अंतिम अंक, पृष्ठ ६६८

किन्तु जुगलकिशोर मुख्तार की लेखनी में बड़ी शक्ति थी। उनके अभिप्राय निर्मल और समूची दिगम्बर जैन समाज के लिये अत्यंत हितकर थे। उन्हें समाज में समझा गया और शीघ्र ही उनके अभियान में श्रीमान् और धीमान्, दोनों तरह के लोग बड़ी संख्या मे जुड़ते चले गये। समंतभद्र आश्रम करोलबाग से उठकर दरियागंज में आया। उसका अपना भवन बना और "वीर-सेवा मन्दिर" का उदय हुआ। स्व. बाबू छोटेलालजी कलकत्ता, स्व. साहु शान्तिप्रसादजी, ब्र. चन्दाबाईजी, बैजनाथजी सरावगी, श्री जुगमंदरदास

जैन, सेठ अमरचन्दजी कलकत्ता, श्री मिश्रीलालजी काला, गजराजजी सरावगी, नथमलजी सेठी, रतनलालजी झाँझरी आदि अनेक महानुभाव ने समय-समय पर मुख्तारजी का भार बटाया।

बौद्धिक वर्ग में श्री नाथूराम प्रेमी, बुद्धिलाल श्रावक और ए.एन. उपाध्ये उनके प्रमुख सहायक रहे। बाद में इस सूची में श्री यशपालजी जैन तथा डॉ. प्रेमसागर और रतनलाल कटारया का नाम भी जुड़ा। वीरसेवा मन्दिर के शोधकार्य में और अनेकान्त के सम्पादन में पं. परमानन्दजी और पं. हीरालालजी का नाम भी उल्लेखनीय है। अनेकान्त के पुराने अंकों को, और संस्था के प्रकाशनों को देखकर ही आज मुख्तार साहब के योगदान का तथा उनके संकल्पों का अंदाजा लगाया जा सकता है। जैन साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में उनका जो अवदान है वह सैकड़ों सालों तक उनके यश को जीवित रखने के लिये पर्याप्त है।

—शान्ति सदन, सतना-४८५००१

को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे

–पं. जवाहरलाल जैन, भीण्डर

प्रस्तुत सामग्री में जिनागम के कुल २३ प्रकरण हैं। जिन्हें यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इस सामग्री की पू. डॉ. साहित्याचार्य पन्नालालजी जबलपुर ने पू. त्यागीजी के साथ बैठकर वाचना की है। वाचना के उपरान्त कुल ३० बिन्दुओं में से ७ विन्दु पृथक् करके शेष २३ बिन्दुओं को ही यहाँ प्रकाशित कराया जा रहा है।

मैं मंदबुद्धि हूं, अतः पाठकों से करबद्ध निवेदन है कि जो संशोधन उचित लगे उसे ही ग्रहण करें। मेरा कोई आग्रह नहीं है कि जो मैंने समीक्षा लिखी है वह सत्य ही हो।

इस प्रस्तुत सामग्री का शीर्षक प्रो. डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी, जोधपुर ने दिया है।

१. श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला से पं. फूलचन्द्र जी द्वारा सम्पादित लब्धिसार क्षणणासार की प्रस्तावना के पृ. ३१ पर लिखा है–"नागपुर के सेनगण मंदिर में कर्मकाण्ड टीका की एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। ......मूलसंघे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वरः। तस्य पादस्य वीरेन्द विबुधो विश्ववेदिनः।।"..........................

नीचे लिखा है–"गोम्मटसार कर्मकाण्ड की दो टीकाएं हैं–एक ज्ञानभूषण भट्टारक रचित और दूसरी उनके शिष्य नेमिचन्द्र द्वारा रचित।"

समीक्षा–१. नागपुर के सेनगण मंदिर में जो कर्मकाण्ड की टीका होनी कहा गया है वह वास्तव में कर्मकाण्ड की टीका नहीं है; बल्कि कर्मकाण्ड के आधार पर संकलित, ऐसे कर्मप्रकृति (प्राकृत) ग्रन्थ की टीका है। २. कर्मकाण्ड की तो एक ही संस्कृत टीका है–नेमिचन्द्र रचित। ३. ऊपर

जो श्लोक हे, वह भी त्रुटित है। वह ऐसा होना चाहिए–

मूलसंघे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वरः। तस्य च पट्टे वीरेन्दुविबुधो विश्व-वंदितः।।

अब इस विसंगति का कारण कहा जाता है –

'कर्मप्रकृति' नामक मूल प्राकृत ग्रन्थ नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक (जो कर्मकाण्डकार नेमिचन्द्र सि. चक्रवर्ती से भिन्न ही कोई विद्वान् हैं) रचित हैं जिसमें कुल १६२ गाथाएं हैं। इसकी आद्य १५ गाथाएं गोम्मटसार कर्मकाण्ड की आद्य १५ गाथाओं को उठाकर ज्यों की त्यों लिख दी गई हैं। इसी तरह आगे भी कई दशक गाथाएँ ज्यों की त्यों कर्मकाण्ड से लेकर इसमें निक्षिप्त कर दी गई हैं। इस तरह जुगलकिशोर मुख्तार सा. के शब्दों में "कर्मप्रकृति" का अधिकांश शरीर आद्योपांत भागों सहित, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड से बना है। इस कर्मकाण्ड व कर्मप्रकृति में बहुत-सी गाथाओं के साम्य तथा दोनों के कर्ताओं के नाम साम्य से कर्मप्रकृतिटीकाकार ज्ञानभूषण को भी यह कर्मकाण्ड ग्रन्थ ही लगा। इसीलिए कर्मप्रकृति की ज्ञानभूषण रचित संस्कृत टीका को कर्मकाण्ड की संस्कृत टीका समझ लिया गया है। यह कर्मप्रकृति (मूल) विक्रम की १३वीं शती में रचित (संकलित) हुआ था। तथा इस पर संस्कृत टीका १७वीं शती में लिखी गई है।

२. **पंचसंग्रह (ज्ञानपीठ से प्रकाशित)** के पृष्ठ ५५६ पर लिखा है–यदि आनुपूर्वी नाम कर्म न स्यात् क्षेत्रान्तरप्राप्ति जीर्वस्य न स्यात्

अर्थ–यदि आनुपूर्वी नाम कर्म न होता तो जीव (विग्रहगति में) एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में नहीं जा सकता था। अतः क्षेत्र से क्षेत्रान्तर में ले जाने वाला कर्म आनुपूर्वी है।

इस पर पं. कैलाशचन्द्र सि. शास्त्री सा. की समीक्षा–आनुपूर्वी नाम कर्म का जो यह लक्षण किया है वह दिगंबर परम्परा के शास्त्रों में हमारे देखने में नहीं आया। उक्त लक्षण तो श्वेताम्बर परम्परा से मेल खाता है। **(जैन साहित्य का इतिहास १/४४७)**

इस पर पुनः समीक्षा :–

यह कथन दिगम्बर परम्परा से मेल खाता है अतः श्रद्धेय पं. कैलाशचन्द्र

जी की उक्त समीक्षा विचारणीय है। धवल पृ. ६ में लिखा है–पुव्वसरीरं छंडिय सरीरंतमघेत्तूण ट्ठिदजीवस्य इच्छिदगति गमणं कुदो होदि? आणुपुव्वीदो।

अर्थ–"शंका–पूर्व शरीर को छोड़कर, दूसरे शरीर को नहीं ग्रहण करके स्थित जीव का इच्छित गति में गमन किस कर्म से होता है? **समाधान**–आनुपूर्वी नामकर्म से (विग्रह गति में) जीव का इच्छित गति में गमन होता है।" **(धवल ६ पृ. ५६ वीरसेन स्वामी) पचसंग्रह टीका में भी यही लिखा है।**

३. भट्टारकश्रुतसागर सूरि ने अपने ग्रन्थ **तत्त्वार्थसूत्र की टीका श्रुतसागरी वृत्ति** में लिखा हे कि न्यायकुमुदचन्द्रोदय में प्रभाचन्द्र ने कहा है कि गुरुदत्त और पाण्डव आदि का उपसर्ग के द्वारा मुक्तिलाभ देखा जाता है, अतः अनपवर्त्यायु का नियम नहीं है। **(त. वृत्ति २/५३ की व्याख्या)**

पं. कैलाशचन्द्र जी सि. शास्त्री की समीक्षा–"प्रभाचन्द्र जी के न्यायकुमुद चन्द्र में ऐसा कहीं भी नहीं लिखा है। असल में उक्त कथन प्रभाचन्द्र के तत्त्वार्थवृत्तिपद-टिप्पण में है।

देखो–**(सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठ) अन्तप्रदत्त तत्त्वार्थ टिप्पण पृ. ४०५)** श्रुतसागर जी के सम्मुख प्रभाचन्द्र का टिप्पण अवश्य था, सत्संख्या आदि सूत्र की व्याख्या में आपने त. टिप्पण को खूब अपनाया है। फिर भी विस्मरण वश ही उनसे उक्त भूल हो गई जान पड़ती है।"

हमारा निवेदन–इसी के अनुसार श्लोकवार्तिक भाग ५ पृ. २५७ (कुंथुसागर ग्रन्थमाला) आदि स्थानों पर संशोधन करना चाहिए।

४. **सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठ)** पृष्ठ ६६६ (अ. २ सूत्र ५) विशेषार्थ में लिखा है–"केवल नौ नोकषाय और सम्यक्त्व प्रकृति ये दस प्रकृतियाँ इनमें मात्र देशघातीं स्पर्धक पाए जाते हैं।" अतः इन नौ नोकषायों का क्षयोपशम सम्भव नहीं है।"

समीक्षा–यहाँ परमश्रद्धेय पण्डित सा. भूल गए हैं। वस्तुतः बात यह है कि नौ नोकषाय में भी सर्वघाती स्पर्धक होते हैं। **(जयधवल १३ (१५५ तथा जयघवल ५ पृ. १४२ तथा पृ. १४६ से १५१)**

यथा–स्त्री पुरुष नपुंसक वेदों में एक स्थानिक से चतुः स्थानिक तक

चारों प्रकार के स्पर्धक पाए जाते हैं। शेष ६ नोकषायों में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक व चतुस्थानिक स्पर्धक पाए जाते हैं। इस प्रकार नौ नोकषायों में भी सर्वघाती स्पर्धक भी निर्बाधरूप से पाए जाते हैं।

स्वयं पण्डित जी ने अपने द्वारा सम्पादित लब्धिसार क्षपणसार पृ. १५७ व १५६ (राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) में लिखा है–"चार संज्वलन तथा नौ-नोकषायों के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और उन्हीं के देशघाती स्पर्धकों का उदय होने से संयमासंयम क्षायोपशमिक स्वीकार किया है।................" अतः पण्डित जी ने सर्वार्थसिद्धी में उक्त स्थल पर भूल की है।

५. **धर्मरत्नाकर** (जीवराज ग्रन्थमाला) में १०/३ पृ. १५० पर उत्कृष्ट तपस्वी जयसेन ने लिखा है–

पुद्गलार्द्धपरावर्तादूर्ध्वं मोक्षगती पुमान्।
त्रिकोटाकोटीमध्ये हि स्थापितेस्वष्टकर्मसु।।

अर्थ–अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल के पश्चात् (भीतर) मोक्ष को प्राप्त होने वाला श्रेष्ठ भव्य जीव ८ (आठ) कर्मो की ३ कोड़ी-कोड़ा स्थिति स्थापित करके .... अधःकरण करता है।

समीक्षा–यह कथन गलत है। ७ (सात) कर्मों की स्थिति ही अंतः कोटा-कोटी के मध्य स्थापित की जाती है। आयु कर्म तो किसी के भी ३३ सागर से अधिक सत्त्व वाला नहीं होता। फिर उसको अन्तः कोटाकोटी प्रमाण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर आयु का इस समय स्थितिकाण्डक घात भी नहीं होता। अतः प्रथमोपशम के अभिमुख जीव आयु बिना शेष सात कर्मो की ही स्थिति प्रायोग्यलब्धि में ही अन्तः कोटाकोटी स्थापित कर देता है। तीन कोटाकोटी जो लिखा है वह भी सभी सिद्धान्त शास्त्रों के विपरीत है। (देखो–धवल ६/२०४ लब्धिसार ७, ८ तथा जयधवल १२ पृष्ठ २०१, २३१)

६. उक्त ग्रन्थ में ही आगे लिखा है–आद्यन्तरान्तराख्येन करणेनापवर्तयेत्।

अन्तर्मुहूर्ततो मिथ्यात्व भावानुबन्धिनः।। ८।। यहाँ लिखा है कि अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभाग जाने पर फिर अन्तरकरण नामक करण करता है जिसमें अन्तर्मुहूर्त द्वारा मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का अपवर्तन होता है।

समीक्षा—अन्तरकरण में मात्र मिथ्यात्व का ही अपवर्तन अन्तरकरण होता है। अनन्तानुबन्धी का अन्तरकरण नहीं होता। यही बात धवल तथा जयधवल दोनों में तथा अन्यत्र लिखी है यथा—ज. ध. १२/३१०, धवल ६/२३१, जयधवल १२/२७५, (कम्मय. श्वे. पृ. २६०)

लब्धिसार गा. ८४;, गा. ८६ की टीका; लब्धिसार मुख्तारी टीका पृ. ८३ लब्धिसार (रायचंद्र शास्त्रमाला) पृ. ७१ पं. फूलचन्द्र जी सि. शा. आदि।

फिर अन्तरकरण किया के बाद अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति का जब अभाव होता है तभी प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। तत्काल नहीं।

७. उसी धर्मरत्नाकर में आगे श्लोक १४-१५ में लिखा है—

लघ्वीं स्थिति समस्तानामन्तमौहूर्तिकीं विदुः।। १४।।
ज्येष्ठामाद्यस्य तामेव, द्वे षट्षष्टी त्रयामपि।
वेदकस्य त्रयस्त्रिंशत्सागराणां जगुः पराम्।। १५।।
पूर्वकोटीद्वयेनामा क्षायिकस्येषदूनिकाम्।

अर्थ—तीनों सम्यक्त्वों का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।। १४।। उत्कृष्ट स्थिति प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व की तो पूर्वोक्त अन्तर्मुहूर्त ही है। वेदक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति दो ६६ = १३२ सागर है। क्षायिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति दो पूर्वकोटी अधिक ३३ सागर से कुछ कम (२ अन्तर्मुहूर्त व ८ वर्ष से कम) है।

समीक्षा—ग्रन्थकार ने वेदकसम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति २ छासठ सागर कही; सो गलत है। वेदकसम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल सिद्धान्त शास्त्रों में ६६ सागर ही कहा है। (देखो—पं. रतनचन्द्र मुख्तार व्यक्तित्व-कृतित्व पृ. ३५३ जयधवल २/२२; २/११८-११६; धवल ७/पृ. १८१ आदि) दो छासठ सागर तक तो अनन्तानुबन्धी के उदय रहित या सत्त्व रहित रहने का का है; वेदक सम्यक्त्व का काल नहीं। इसी ग्रन्थ में नीचे टिप्पण भी गलत

दिए हैं। यथा—अर्द्धपुद्गलपरावर्तन स्थिति की जगह आन्तर्मुहूर्तिकीं स्थितिं चाहिए। तथैव क्षायिकस्य की जगह क्षायोपशमिकस्य चाहिए; इत्यादि।

८. **धर्मरत्नाकर** पृ. १८७ (जीवराज ग्रन्थमाला) में लिखा है—

श्रेणिकक्षितिपतिर्यथा वहन् क्षायिकं, तदनुरेवती परम्।
आदिराजतनुजा सुदर्शनात् शिश्रियुः शिवपदं क्षणादपि।।२४।।

अर्थ—श्रेणिकराजा क्षायिक समकित से, रेवती उत्कृष्ट समकित से तथा आदिनाथ के पुत्र : उसी सम्यक्त्व से—ये सब के सब मोक्ष गए।

समीक्षा—श्रेणिक मोक्ष नहीं गए वे तो प्रथम नरक में हैं। फिर वहाँ से निकलकर हजारों वर्षो बाद आगामी युग में प्रथम तीर्थंकर बनेंगे फिर मोक्ष जाएँगे। (पुण्यास्रवकथाकोश पृ. ६३ (रामचन्द्र मुमुक्षु); महापुराण पर्व ७४ तथा श्रेणिक चरित) रेवती तो ब्रह्मस्वर्ग में गई है। आराधना कथाकोश कथा १०२ श्लोक ६६-६७ स्त्री को मोक्ष होता भी नहीं (धवल पु. २)

एक जगह एक लेखक गलती कर लेता है तो उसकी कृति के सहारे बनने वाली सब कृतियों में गलतियाँ आगम का रूप धारण कर लिया करती हैं।

९. **जीवकाण्ड (ज्ञानपीठ) भाग** पृष्ठ २१५ तथा २६३ पर लिखा है—**अस्यां चं द्विरूपघनद्विरूपघनाघन धारयोश्च सूच्यंगूलादीनां वर्गशलाका—र्द्धच्छेदराशिः नोत्पद्येते; विरलनदेयक्रमेण तदुत्पत्तेः।**

अर्थ—इस द्विरूपवर्गधारा में तथा द्विरूपघनधारा एवं द्विरूपघनाघन धारा में सूच्यंगुल आदि की वर्गशलाका और अर्द्धच्छेदराशि उत्पन्न नहीं होती क्योंकि सूच्यंगुल आदि विरलन देय के क्रम से उत्पन्न हुए हैं।

समीक्षा—उक्त कथन; उसका भी मूलाधार कन्नड़ी टीका तथा आगे पृष्ठ २४३ की वृत्ति और उसकी भाषाटीका चिन्तनीय है। बात यह है कि सूच्यंगुल विरलन देय के क्रम से तो उत्पन्न हुआ है, पर समान विरलन व समान देय के क्रम से उत्पन्न नहीं हुआ है अतः उस द्विवर्गरूपधारा में उत्पन्न सूच्यंगुल के अद्धच्छेद भी उसी द्विरूपवर्गधारा में उत्पन्न हो जाते हैं। (देखो धवल १४/३७४ तथा ३७५) सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेद द्विरूपवर्गधारा में कहाँ उत्पन्न होते हैं। ऐसा पूछने पर उसका उत्तर यह है कि पल्य के

अर्द्धच्छेद जहाँ प्राप्त होते हैं उस वर्गस्थान के आगे वाले (ठीक तदनन्तरवर्ती) **वर्गस्थान स्वरूप** वे सूच्यंगुल के अर्धच्छेद = सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेद : ऐसा होगा। यही बात तर्क, गणितशास्त्र से भी काय के माफिक स्पष्ट है। हाँ, इस सूच्यंगुल की वर्गशलाका जरूर द्विरूपवर्गधारा में उत्पन्न नहीं होती ; जो कि गणित युक्ति तथा आगम से स्पष्ट है। हम विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखते हैं।

इसी तरह द्विरूपघनधारा एवं घनाघनधारा में भी उक्त आधार से प्ररूपणा करनी चाहिए।

१०. **अध्यात्म रहस्य** (आशाधरजी) प्रस्ता. पृ. २२ पर जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं–"पुद्गल तथा काल द्रव्य अनन्त हैं।"

समीक्षा–पेन स्लिप वश ऐसी त्रुटि हो जाती है या फिर प्रिंटिंग मिस्टेक हो। यहाँ ऐसा चाहिए–पुद्गल द्रव्य अनन्त तथा काल असंख्यात हैं।

आचार्य शिवसागर ग्रन्थमाला से प्रकाशित आदिपुराण (शास्त्राकार) में पृष्ठ ३४३ (पर्व १० श्लोक २५) में लिखा है कि "एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय ओर असैनी पंचेन्द्रिय जीव धर्मा नामक पहली पृथ्वी तक जाते हैं।" नोट–यह गलत लिखा है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव किसी भी नरक में नहीं जाते। मूल में तो इतना मात्र लिखा हे कि "प्रयान्ति असंज्ञिनो धर्मताम्।" इसका अर्थ होता है कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पहले नरक तक जाते हैं। यही अर्थ ठीक है। जो अर्थ छपा है, वह खोटा है। (कारण देखो धवल ६/४५७)

१२. **चर्चासंग्रह** (पृ. ३०३) में आहारक शरीर इन्द्रियगोचर है कि नहीं। इस प्रश्न के उत्तर में श्रद्धेय ब्र. रायमल्ल ने लिखा है कि "आहारक शरीर के अंगोपांग होने से वह इन्द्रियगोचर हो, यह मेरा चिन्तन है।"

समीक्षा–आहारक शरीर सूक्ष्म है वह इन्द्रियगोचर नहीं है। कहा भी है–अप्पडिहया सुहुमा णाम आहार......(धवल १४/३२७) अन्यत्र भी लिखा है–औदारिकस्य इन्द्रियैरूपलब्धिः तथा इतरेषां कस्मात् न भवति इति चेत्? परं परं सूक्ष्मम्? (रा. वा. २/३६/२१ तथा रा. वा. ५/२१५ धवल १/५६३ आदि) इन वाक्यों से स्पष्ट है कि आहारक शरीर सूक्ष्म होता है अतः इन्द्रियों

से नहीं देखा जा सकता।

१३. उसी ग्रन्थ में पृष्ठ २६ पर लिखा है कि कषाय प्राभृत जिसका दूसरा नाम महाधवल है..........

समीक्षा—यह भी ठीक नहीं है। कषायपाहुड का दूसरा नाम महाधवल नहीं, जयधवल है। वास्तव में तो कषाय प्राभृत की टीका का नाम जयधवला है। जबकि महाधवल तो महाबन्ध का दूसरा नाम है। यह महाबन्ध या महाधवल षट्खण्डागम का छठा खण्ड हैं

१४. **पंचाध्यायी उत्तरार्ध श्लोक** १०६१-६२ में लिखा है कि जितने भी असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच हैं उन सभी में भी केवल एक नपुसंक वेद ही होता है। वही द्रव्यवेद होता है तथा वही भाववेद होता है दूसरा वेद (स्त्रीवेद व पुरुषवेद) कभी नहीं होता। मूल इस प्रकार हैं—

पंचाक्षासज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसक।
द्रव्यतो भावतोऽपि च वेदा नात्यः कदाचन।।

समीक्षा—पं. राजमल जी ने यह गलत लिखा है। सम्पूर्ण दिगम्बर जैन वाङ्मय में करणानुयोग के ग्रन्थों में असंज्ञी पंचेन्द्रिय के तीनो वेद कहे हैं। यथा—पंचेन्द्रिय तिर्यचों में गर्भज तथा सम्मूर्च्छन दोनों होते हैं। उनमें सम्मूर्च्छनों के तो एक नपुंसकवेद ही होता है। गर्भज असंज्ञी पंचेन्द्रिय के तीनों वेद होते हैं। इस तरह असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में तीनों वेद होते हैं—

प्रमाण—१. धवला ७/५५५ से ५५८ का अल्पबहुत्व, षट्खण्डागम परिशीलन पृ. १५३, मूलाचार भाग २ ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ. ३२३ गाथा १२०१ टीका, गो. जी. गाथा ६८५, महाधवला २/३०४ धवला २/२६, धवला १/३४६, धवला ४/३६८, स. सि. पृ. ३६३ (ज्ञानपीठ) गो. जी. २८१, गो. जी. ७६ आदि।

१५. **बनारसीदास ने अर्द्धकथानक** में पद्य ५८३ में शान्तिकुन्थु अरनाथ का वर्णन श्वेताम्बर मतानुसार किया है। अतः वह ठीक नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार अरनाथ की माता का नाम मित्रा तथा चिह्न मत्स्य होना चाहिए। वहाँ इससे भिन्न वर्णन है। बनारसी दास जन्मतः श्वेताम्बर थे। खरपत गच्छ के श्रावक थे। इनकी रचनाओं में भी उक्त प्रकार से

श्वेताम्बर पन की झलक मिलती है। बनारसी विलास के राग असावरी (पृ. २३६) में **प्रसन्नचन्द्र ऋषि** का उल्लेख है जो श्वेताम्बर थे—"अर्द्धकथानक / प्रस्तावना पृ. ३३ / पं. नाथूराम प्रेमी का लेख"

१६. **पद्मप्रभु चालीसा**—पदमप्रभु चालीसा में चालीस पद्य पंक्तियाँ हैं। बड़ा अच्छा तथा संक्षेप में पद्मप्रभु भगवान का सम्पूर्ण जीवन-दर्शक स्तुतिपाठ है। इसमें विशिष्ट रूप से बाड़ा-पदमपुरा के पद्मप्रभु की अतिशयकारी मूर्ति का वृत्तान्त तथा महिमा वर्णित है। इस चालीसा का पाठ प्रतिदिन भारत में लाखों नर-नारी करते हैं। चन्द्रकवि ने इसे बनाया हे। मैं भी इस चालीसा की हृदय से प्रशंसा करता हूँ।

कुछ विशेष ध्यान देने योग्य स्थल निम्न हैं–

क) सारे राजपाट को तज करके पद्मप्रभु जी मनोहर वन में पहुँचे थे तथा फिर वहाँ मुनि दीक्षा ली थी। अतः पंक्तियाँ इस क्रम से पढ़ी जानी उचित है –

सारे राजपाट को तज के, तभी मनोहर वन में पहुँचे।
कार्तिक सुदी त्रयोदशी भारी, तुमने मुनिपद दीक्षाधारी।।

सार यह है कि उक्त दोनों पंक्तियों को इसी उपर्युक्त क्रम से पढ़ा जाना चाहिए, न कि पहले "कार्तिक सुदी"......... तथा बाद में 'सारे राजपाट ....।'

ख) मूला नाम जाट का लड़का, घर की नींव खोदने लागा। यह पंक्ति काव्य की दृष्टि से थोड़ी शुद्ध हो जाती तो अच्छा रहता। अंतिम शब्द लागा तथा लड़का : इनके उच्चारण में जीभ ठोकर खाती है—"जिह्वा जानाति छंदांसि।"

ग) ऐसी महिमा बतलाते हैं, **अंधे भी आंखें पाते हैं** तथा **अन्धा देखे**, गूंगा गाए.............इन पंक्तियों में विषय (अन्ध का देखना) की पुनरावृत्ति हुई है।

घ) जो यह लिखा है कि "कार्तिक सुदी त्रयोदशी भारी तुमने मुनि पद दीक्षाधारी" यहाँ यह बताया है कि कार्तिक सुदी तेरस को दीक्षा ली। परन्तु पद्मप्रभु भगवान ने कार्तिक सुदी तेरस को दीक्षा नहीं

ली। उन्होंने कार्तिक कृष्ण (वीद) त्रयोदशी को दीक्षा ली थी। इसके प्रमाण निम्न १६ ग्रन्थ हैं —

१. तिलोयपण्णति ४/६५६, २. हरिवंश ६०/२२६-२३६ पृ. ६४७, ३. महापुराण ५२, ४. जै. सि. कोष २/तीर्थ प्रकरण, ५. जैन साहित्य का प्राचीन इतिहास १/१२४, ६. राज. के जैन अतिशय क्षेत्र परिचय एवं पूजा पृ. २७, ७. धर्मोद्योत प्रश्नोत्तर माला पृष्ठ ६८, ८ जैन भारती पृष्ठठ २५२ (पू. ज्ञानमतीजी), ६. महापुराण अपभ्रंश संधि-४३ पृष्ठ ६७ भाग-३, १०. आशाधरकृत कल्याणमाला-१०, ११. जैन भूगोल (भिषीकरजी, सोलापुर), १२. कवि वक्तावरजी कृत पूजा, १३. रामचन्द्र कृत पूजा, १४. पद्मप्रभस्तवनम् पृष्ठ ४, १५ तीर्थकरों का लेखा पृष्ठ २ (श्वेताम्बर सूत्र तथा ग्रन्थ दोनों में का. कृष्णा तेरस ही दीक्षातिथि है।), १६. ज्योतिष शास्त्र के नियमानुसार भी का. कृ. १३ ही उचित है। क्योंकि चित्रानक्षत्र में दीक्षा ली थी। चित्रा नक्षत्र का. कृ. १३ को ही पड़ता है। कार्तिक शुक्ल तेरस को नहीं पड़ता।

१७. **षट् प्राभृत की टीका** (श्रुतसागरी वृत्ति) में दर्शनपाहुड की टीका में लिखा है कि "यदि कदाग्रहं न मुंञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकै-रुपानद्भिरर्गूथलिप्ताभिर्मुखे ताड़नीयाः, तत्र पापं नास्ति।" **अर्थ**—यदि नास्तिक पुरुष युक्तिपरक वचनों को नहीं माने तो फिर सक्षम आस्तिक पुरुष उनके मुख पर टट्टी से भरा जूता मारें। इसमें कुछ भी पाप नहीं है।

समीक्षा—टीकाकार ने शब्दों को चयन अच्छा नहीं किया।

१८. **बोधपाहुड़** की टीका में लिखा है कि चैत्यगृहं षट्कायानां हितङ्करं स्वर्गमोक्षकारकं भणितं...। चैत्यगृहार्थं या मृतिका खन्यते सा काययोगेन उपकारं चैत्यगृहस्य कृत्वा शुभम् उपार्जयति। तेन तु सा पारम्पर्येण स्वर्गमोक्षं लभते। यज्जलं चैत्यगृहस्य कार्यम् आयाति तद्वत् तदपि शुभभागू भवति......।

अर्थ—जिन मंदिर को जिनागम में षट्कायिक जीवों का हितकारक और मोक्ष को प्राप्त कराने वाला कहा है। चैत्यगृह के निर्माण के लिए जो मिट्टी खोदी जाती है वह काययोग के द्वारा चैत्यगृह का उपकार करके पुण्यकर्म का उपार्जन करती है और उस पुण्यकर्म के द्वारा परम्परया स्वर्गमोक्ष को प्राप्त

होती है। जो जल चैत्यगृह के काम आता है वह भी मिट्टी की तरह ही पुण्य को तथा परम्परा स्वर्गमोक्ष को प्राप्त होता है।.......

समीक्षा—यह कथन जैनधर्म के एकदम प्रतिकूल है। अतः मान्य नहीं हो सकता। स्थावर जीव काययोग के द्वारा उपकार करें ऐसा कर्तृत्व रूप परिणाम उनके होता ही नहीं। कहा भी है— इदम् अहं करोमीति चेतना कर्मचेतना अर्थात् मैं यह करता हूँ ऐसा अनुभव कर्म चेतना है। तथा इदं वेदयेऽहम् यानी मैं इसे भोगता हूँ ऐसा अनुभव कर्मफल चेतना है तथा एक जानने रूप भाव सो ज्ञान चेतना है। (समयसार ३८७ आ. ख्या., प्र. सा. त. प्र. १२३-२४) परन्तु एकेन्द्रियों के तो मात्र कर्मफल चेतना ही होती है। हाँ, त्रसों के कर्मफल चेतना तथा कर्मचेतना भी होती है। सत्वे खलु कम्मफलं थावरकाया, तसा हि कदजुदं। (पं. काय ३६) ऐसी स्थिति में पृथ्वी जल आदि जीव तो मात्र कर्मफल चेतना (अव्यक्त सुख दुःखानुभवरुप) को ही भोगते हैं। अतः उनके लिए "काय के उपकार करके" यह बात सोचनी मिथ्या है। यदि तिर्यंच एकेन्द्रिय गति से ही स्वर्गमोक्ष की टिकिट मिलने लग जाए तो फिर कौन सम्यक्त्वादि धर्म तथा मनुष्यादि पर्यायों को चाहेगा? किंच, अनन्त बार ग्रैवेयकों को प्राप्त करने वाले मुनिराज तथा अनन्त बार समवसरण में जाने वाला जीव भी मोक्ष जावे। यह नियम नहीं, तो भला मंदिर के लिए अजैन मजदूरों द्वारा खोदी जाने वाली मिट्टी को मोक्ष मिलने की बात कहाँ से सही हो सकती है? मिट्टी खोदने वाला वेतनभोगी मजदूर भी जैसे उसी क्षण परिणामानुसार पुण्य या पाप दोनों में से किसी का भी संचय करता हुआ प्रत्यक्ष ही अनुभव में आता है। वैसे ही उसी क्षण गंती की प्रहार से खोदी जाकर, वेदना से-पीड़ा से प्रायः अकालमरण को प्राप्त होकर अशुभ कर्म उपार्जनपूर्वक अन्य स्थावर, त्रस पर्याय को वह पृथ्वीकायिक्र जीव प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में उस पृथ्वीकायिक के लिए पुण्यबन्ध, स्वर्ग तथा मोक्ष होने की बात कहना उचित नहीं है। इसी तरह शेष जलकायिक आदि के लिए भी कहना चाहिए। ऐसा भी सम्भव नहीं कि एक का पुण्य अन्य को लग जाए। जैनदर्शन में तो यह भी असम्भव है। (अमितगति आचार्य—सामायिक पाठ)

सार–यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि पूज्य महाविद्वान् श्रुतसागर सूरि तथा उनकी षट्प्राभृत टीका पूज्य तथा प्रामाणिक ही है। मात्र जो कहीं ऐसा अशुद्ध स्थल है उस स्थल के प्रति मन में शुद्ध सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए। यही बात इस लेख के सभी बिन्दुओं के प्रति ध्यान में रखनी चाहिए। क्योंकि "एक स्थल में प्रमाणता का संदेह होने पर सभी स्थलों का अप्रमाण मानने में विरोध आता है।" (धवला जी १३/३८२)

१६. **सुदृष्टि तरंगिणि** (पं. टेकचन्दजी) पृ. ८४ (जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता-७) तथा जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता के पृ. ६० तथा बनारस प्रकाशन के पृष्ठ १३७ : इन तीनों प्रकाशनों में लिखा है–जाके अन्तर्मुहूर्त आयु में बाकी रया ऐसा यतीश्वर के तीर्थकर का बंध भया होय ताके ज्ञान निर्वाण दोय ही कल्याणक एकै काल होय। समवसरणादि विभूति प्रकट नाहीं होय।

समीक्षा–यह असम्भव है। क्योंकि इस तीर्थकर प्रकृति की उद्वेलना तो हो नहीं सकती। क्योंकि यह उद्वेलना प्रकृति नहीं है। (गो. क. ४१५) तथा जो संयमी तीर्थकर प्रकृति बाँधता है उसके शुभ या शुद्ध दो ही उपयोग हो सकते हैं, यह तो सर्वविदित है। शुभोपयोग में पाप का पुण्यरूप संक्रमण तथा पुण्यबंध होता है तथा शुद्धोपयोग से भी पुण्य प्रकृति का अनुभाग तो घटता नहीं, स्थिति भले ही घट जाओ। (मो. मा. प्र. पृष्ठ ३४१ सस्ती ग्रन्थमाला) यही कारण है कि बद्ध साता का उत्कृष्ट अनुभाग अयोग केवली के अन्त समय तक भी पाया जाता है। (धवल १२/१८ आदि) इसी से यह सिद्ध हुआ कि बद्ध तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति नियम से १४वें गुणस्थान तक जाती है तथा जिस केवली के वह सत्त्वस्थ होगी उसके उदित भी नियम से होती है। क्योंकि गो. क. गाथा ६२५ (पृष्ठ ६०६) में लिखा है कि तीर्थकर सत्त्वी सयोगी अयोगी के ७८, ८० व १० ये तीन सत्त्वस्थान ही हो सकते हैं तथा उसी के पृष्ठ ६६५ (मुख्तारी सम्पादन) में स्पष्ट बताया है कि ७८, ८०, १० नामकर्मीय सत्त्वस्थान वाले के नियम से २१, २७, २६, ३०, ३१ व ६ प्रकृतिक उदयस्थान ही उदय में आते हैं, अन्य नहीं।

(शेष आवरण ३ पर)

उपनिषदों में दिगम्बरत्व के उल्लेख

–डॉ. रमेशचन्द्र जैन

आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने दयोदय चम्पू में दिगम्बरत्व सम्बन्धी उपनिषदों के उद्धरण दिए हैं–नारद पारिव्राजकोपनिषद् में लिखा है कि मुनि दो प्रकार का होता है। एक तो वह जो कोपीन मात्र धारण करता है दूसरा वह जो बिल्कुल नग्न होता है, जो ध्यान में तत्पर रहता है और यही ज्ञानवान् योगी परमात्म अवस्था को प्राप्त कर सकता है।[1]

मैत्रेयोपनिषद् के तीसरे अध्याय के उन्नीसवें सूत्र में भी लिखा है कि देशकाल की अपेक्षा न करके मैं दिगम्बर सुखी हो रहा हूँ।[2]

सन्यासोपनिषद् में कहा है–

सब कुछ छोड़कर देहमात्र को धारण करते हुए दिगम्बर बन जावे, तत्काल के पैदा हुए बालक सरीखा निर्विकार हो जावे तथा सन्यास लेकर तत्काल के पैदा हुए बालक सरीखा होता है वही ज्ञान वैराग्यशाली होता है।[3]

वैदिक पद्मपुराण में दिगम्बर साधु की चर्चा–

वैदिक पद्मपुराण में राजा वेन की राजसभा में दिगम्बर साधु के प्रवेश की चर्चा इस प्रकार की गयी है–

पुरुषः कश्चिदायातश्छद्मलिंगधरस्तदा। नग्नरूपो महाकायः शिरोमुण्डोमहाप्रभः।। ६।।
मार्जनी शिखिपत्राणां कक्षायां सहि धारयन्। गृहीते पानपात्रं तु नालिकेरमयं करे।। ७।।
पठमानोह्यासच्छास्त्रं वेदधर्म विदूषकम्। यत्र वेनो महाराजस्तत्रायातस्त्वरोन्वितः।। ८।।
सभायां तस्य वेनस्य प्रविवेश स पापवान्। तं दृष्ट्वा समनुप्राप्त वेनः तदाऽकरोत्।। ९।।

–पद्मपुराण भूमिखण्ड-प्रकरण ३७

तब कोई छद्म वेश धारण करने वाला पुरुष आया। वह नग्न रूप, महाकाय था, उसका सिर मुँडा हुआ था। वह महाप्रभायुक्त था। वह अपने

बगल में मयूरपंख की पिच्छी धारण किए हुए था। वह अपने हाथ में नारियल का बना कमण्डलु लिए था। वेदधर्म के दूषक असत् शास्त्र को पढ़ रहा था। वह शीघ्र ही यहाँ आया जहाँ महाराज वेन थे। उस पापी ने वेन की सभा में प्रवेश किया। उसे देखकर वेन ने उसकी अगवानी की।

आगे यह भी कथन है कि राजा वेन ने उससे अपनी कुछ जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त किया। इसके फलस्वरूप राजा वेन जैनधर्मी हो गया। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जैन साधु का प्रवेश राजघरानों में निराबाध होता था और कोई-कोई राजा लोग भी अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर जैनधर्म अंगीकार कर लेते थे।

बाल्मीकि रामायण में श्रमण

बाल्मीकि रामायण में ब्राह्मण, श्रमण और तापसों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है।[४] राम को जिस शबरी ने बेर खिलाए थे, उसे भी श्रमणी कहा गया है।[५] रामायण बालकांड सर्ग १४ श्लो. २२ में दशरथ का श्रमणो को भोजन देना लिखा है—

ब्राह्मणाः भुञ्जते नित्यं नाथवतश्चभुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते।।

श्रमण शब्द का अर्थ भूषण टीका में दिगम्बर किया है।

पञ्चतंत्र में क्षपणक का उल्लेख

पञ्चतंत्र (अपरीक्षित कारकम्) में पद्मनिधि नामक क्षपणक का उल्लेख हुआ।[६] नापित ने क्षपणकों को नग्नकाः कहा है।[७] उनके विहार का क्षपणक विहार[८] के रूप में उल्लेख हुआ है। जिनेन्द्र की स्तुति में यहाँ दो पद्य कहे गए हैं—

जयन्ति ते जिनायेषां केवल ज्ञानशालिनाम्।
आजन्मनः स्मरोत्पत्तौ मानसेनोषरायितम्।। १२।।
सा जिह्वा या जिनं स्तौति तच्चितं यज्जिने रतम्।
तावेव च करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजा करौ करौ।। १३।।

वे जिन जयशील होते हैं। केवल ज्ञान से विशिष्ट जिनका मन जन्म से ही कामदेव की उत्पत्ति के लिए ऊषर भूमिवत् बन चुका है।

जिह्वा वही है जो जिनेन्द्र भगवान का स्तवन करती है। जो जिनेन्द्र पर अनुरक्त रहता है, वही चित्त कहा जाता है। जो हाथ जिनेन्द्र पूजा करने वाले हैं, वही हाथ प्रशंसनीय हैं।

जब क्षपणक को नापित ने अपने घर आने का निमंत्रण दिया तो उसने उत्तर दिया—**भोः श्रावक! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि। किं वयं ब्राह्मण समानाः। यत् आमन्त्रणं करोषि। वयं तत्काल परिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमालोक्य तस्य गृहे गच्छामः। तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तदगृहे प्राणधारण मात्रामशन क्रियां कुर्मः तद्गम्यताम्। नैवं भूयोऽपि वाच्यम।**[९]

अर्थात् हे श्रावक! धर्मज्ञ होकर भी ऐसा क्यों कहते हो, क्या हम लोग ब्राह्मण जैसे हैं, जोकि हमें निमंत्रण दे रहे हो, सदैव हम लोग घूमते हुए उस समय की उपासना से भक्तिमान् श्रावक को देखकर उसके घर जाते हैं और उसके द्वारा बड़े प्रयत्नपूर्वक प्रार्थित होकर ही उसके घर में केवल प्राणाधारण मात्र के लिए भोजनविधि करते हैं, इसलिए जाइए, फिर कभी ऐसा न कहना।

उपर्युक्त चर्या आज भी नग्न दिगम्बर साधुओं में पायी जाती है। किञ्चित् लोभाकृष्ट किसी दिगम्बर साधु के लिए यहाँ कहा गया है—

एकाकी गृहन्त्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः
सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम्।। १५।।
जीर्यन्ते जीर्यतः केशाः दन्ताः जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुः श्रोत्रे च जीर्येते, तृष्णैका तरुणायते।। १६।।

एकाकी, गृहत्यागी, पाणिपात्री और दिगम्बर साधु भी लोक में तृष्णा के द्वारा आकृष्ट कर लिया जाता है, यह आश्चर्य देखो। वृद्धजन के केश श्वेत हो जाते हैं, दाँत भी जीर्ण शीर्ण तथा शिथिल हो जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण हो जाते है, किन्तु एक तृष्णा तरुण हो जाती है।

बाणभट्ट की कृतियों में दिगम्बर साधुओं का उल्लेख

बाणभट्ट (सातवीं शताब्दी ई. का पूर्वार्द्ध) ने अपनी कृति कादम्बरी में क्षपणकों का उल्लेख किया है। शबरों के वर्णन में वे कहते हैं—

केश्चित्क्षपणकैरिवमयूरपिच्छधारिभिः[१०]

अर्थात् कोई शबर क्षपणकों के समान मयूर पंख को धारण किए हुए थे। इसकी टीका में भानुचन्द्रगणि कहते हैं–

क्षपणकैरिव दिगम्बरैरिव मयूराणां बर्हणां पिच्छानि छदानि धारयन्तीत्येवं शीला धारिणस्तैः।

यहाँ क्षपणक से तात्पर्य दिगम्बर मुनि से है। दिगम्बर साधु मयूरपिच्छी अपने साथ रखते हैं।

हर्षचरित में जैनों के लिए आर्हत शब्द का प्रयोग किया है–

जैनैः आर्हतैः पाशुपतैः पाराशारिभिः। हर्षचरित पृ. १३६

बाण ने मयूरपिच्छ रखने वालो को क्षपणक और नग्नाटक कहा है–**'शिक्षित क्षपणक वृत्तय इव मयूरपिच्छचयान् उच्चिन्वन्तः' हर्षचरित पृ. १०४**

अभिमुखमाजगामशिखिपिच्छलाञ्छनो नग्नाटकः–हर्षचरित पृ. ३२७

यहाँ इस प्रकार के साधु को 'बहलमलपटलमलिनतनुः' बतलाया है; क्योंकि दिगम्बर जैन मुनि स्नान नहीं करते हैं।

मुद्राराक्षस में क्षपणक का उल्लेख

विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस में क्षपणक का उल्लेख किया गया है।[11] यहाँ कहा गया है कि हमारा सहाध्यायी इन्दुवर्मा नामक ब्राह्मण है। वह शुक्राचार्य प्रणीत दण्डनीति और ६४ अंगों वाले ज्योतिष शास्त्र में परमप्रवीणता को प्राप्त है। क्षपणक वेश को धारण करने वाले उसको मैंने नन्दवंश के वध की प्रतिज्ञा के पश्चात् ही कुसुमपुर लाकर नन्द के सभी मन्त्रियों के साथ उसकी मित्रता करा दी थी और विशेषतः उसमें राक्षस को विश्वास उत्पन्न हो गया है। उससे बहुत बड़े प्रयोजन की सिद्धि होगी।

इससे यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि नग्न साधुओं का राजसभा आदि में निराबाध प्रवेश था और राजमंत्री तक उनका सम्मान करते थे।

मुद्राराक्षस के पञ्चम अंक का एक प्रकरण यहाँ दृष्टव्य है–

क्षपणक–मैं अर्हन्तों को प्रणाम करता हूँ जो बुद्धि की गम्भीरता के कारण संसार में लोकोत्तर मार्गों से सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

सिद्धार्थक–भदन्त, मैं नमस्कार करता हूँ।

क्षपणक–श्रावक, धर्म की सिद्धि हो। श्रावक, जाने की तैयारी में

कृत निश्चय के समान तुमको देखता हूँ।

सिद्धार्थक–भदन्त, कैसे जानते हैं?

क्षपणक–श्रावक! इसमें जानने की क्या बात है? यह तुम्हारे मार्ग को बताने में कुशल शकुन और हाथ में विद्यमान लेख सूचित कर रहा है।

सिद्धार्थक–भदन्त ने जान लिया। विदेश को जा रहा हूँ। अतः भदन्त बताइये आज का दिन कैसा है?

क्षपणक–श्रावक (पहले ही) मुण्डित सिर वाले तुम नक्षत्रों को पूछते हो।

सिद्धार्थक–भदन्त, इस समय भी क्या बिगड़ा है? बताओ, यदि जाने के अनुकूल दिन होगा तो जाऊँगा।

क्षपणक–श्रावक, इस समय मलयकेतु के शिविर में जाना अनुकूल नहीं होगा।

सिद्धार्थक–भदन्त, बताओ यह कैसे?

क्षपणक–श्रावक, सुनो। पहले तो इस शिविर में मनुष्य का बिना रोक-टोक के जाना और आना था। सम्प्रति यहाँ से कुसुमपुर के पास आ जाने पर किसी को भी मुद्रा से मुद्रित हुए बाहर जाने अथवा आने के लिए अनुमति नहीं दी जाती है तो यदि भागुरायण की मुद्रा से मुद्रित हो, तब तो निश्चिन्त होकर जाओ, अन्यथा ठहरो (कहीं ऐसा न हो कि) शिविर के अधिकारियों के द्वारा हाथ पैर बाँधे हुए (तुम) राजकुल में प्रवेश न करा दिए जाओ।

(आवेग के साथ)

सिद्धार्थक (क्या भदन्त) यह नहीं जानते हैं (कि मैं) अमात्य राक्षस के पास रहने वाला हूँ, इसलिए बिना मुद्रा से मुद्रित भी बाहर जाते हुए मुझको रोकने की किसकी शक्ति है?

क्षपणक–राक्षस के हो अथवा पिशाच के हो, किन्तु बिना मुद्रा से मुद्रित व्यक्ति का यहाँ से बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं है।

सिद्धार्थक–श्रावक जाओ। तुम्हारी कार्यसिद्धि हो। मैं भी भागुरायण से मुद्रा माँगता हूँ। (गूढ़ आशय है कि मैं अभीष्ट प्रयोजन के लिए मुद्रा के बहाने भागुरायण के पास जाऊँगा।

(इस प्रकार दोनों निकल गए)

क्षपणक को कुछ टीकाकारों ने बौद्धभिक्षु बतलाया है। किन्तु अरहन्त, श्रावक तथा क्षपणक शब्द जैन परम्परा से सम्बद्ध हैं। बौद्धों के यहाँ श्रावक को उपासक कहा जाता है। बौद्धों के यहाँ कहीं श्रावक शब्द आया भी है तो उसे जैनों से उधार लिया हुआ ही समझना चाहिए।

महाभारत में क्षपणक का उल्लेख

महाभारत के आदिपर्व में एक स्थान पर शेषनाग नग्न क्षपणक वेष में उत्तंक के कुण्डल चुरा ले जाता है–

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तंकस्तेकुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुद्रश्यमानद्रश्यमानं च। अथोत्तंकस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थ प्रचक्रमे। एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमारणस्य अपसृतय मे कुण्डलेगृहीत्वा प्राद्रवत्।।

मैं यत्न से जाऊँगा, ऐसा कहकर उत्तंक उन कुण्डलों को लेकर चल दिया। उसने रास्ते में **नग्न क्षपणक** को आते देखा। इसके पश्चात् उत्तंक उन कुण्डलों को पृथ्वी पर रखकर पानी पीने के लिए गया। इस अवसर पर वह क्षपणक शीघ्र आकर कुण्डल लेकर भाग गया।

कुसुमाञ्जलि का उल्लेख

कुसुमाञ्जलि ग्रन्थ के रचयिता अपने ग्रन्थ के १६वें पृष्ठ पर लिखते हैं–

"निरावरणा इति दिगम्बराः"

अर्थात् वस्त्र रहित यानी नग्न रूप दिगम्बर होते हैं।

जयन्त भट्ट का उल्लेख

न्यायमञ्जरी ग्रन्थ के कर्त्ता जयन्तभट्ट ग्रन्थ के १६७वें पृष्ठ पर लिखते हैं–**"क्रिया तु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम भस्मजटा परिग्रहो दंडकमंडलुग्रहणं रक्त पट धारणं वा दिगम्बरता वा ऽवलम्ब्यतां कोऽत्र विरोधः।"**

अर्थात् क्रिया अनेक प्रकार की होती है। शरीर में भस्म लगाना, शिर पर जटा रखना अथवा दण्ड, कमण्डलु का रखना या लाल कपड़े का पहनना अथवा **दिगम्बरपने का (नग्न रूप का) अवलम्ब ग्रहण करो,** इसमें क्या विरोध है?

तैत्तिरीय आरण्यक का उल्लेख

तैत्तिरीय आरण्यक के १०वें प्रपिटक के ६३वें अनुवाद में लिखा है—

"कंथाकौपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः" इति संवर्तश्रुतिः।

अर्थात् कंथा (ठंड को दूर करने का कपड़ा), कौपीन (लँगोट) उत्तरासंग (चादर) आदि वस्त्रों के त्यागी, उत्पन्न हुए बच्चे के समान नग्न रूप धारण करने वाले, समस्त परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ साधु होते हैं।

भर्तृहरि द्वारा दिगम्बर साधु की प्रशंसा

भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में **दिगम्बर** साधु की प्रशंसा की है—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाहं सम्भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।। ६६।।

अर्थात् मैं एकाकी, निस्पृह, शान्त और कर्मो का नाश करने में समर्थ पाणिपात्र (हाथ ही जिसके पात्र हैं) दिगम्बर मुनि कब होऊँगा?

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमण परिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसंगतांगीकरण परिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते।
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति।। वैराग्यशतक-५०

जिनके हाथ रूपी पवित्र पात्र हैं, जो सदा भ्रमण करते हैं, जिन्हें भिक्षा में अक्षय अन्न मिलता है, जिनके दिशा रूपी लम्बे चौड़े वस्त्र हैं, परिग्रहत्याग रूप जिनकी परिणति रहती है, अपने आत्मा में ही जिन्हें संतोष रहता है और जो कर्मो का नाश करते रहते हैं, ऐसे दीनता रूपी दुःखसमूह से रहित महात्माओं को धन्य है।

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः।
सारंगाः सुहृदो ननु क्षितिरूहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।
येषां निर्झरम्बुपानमुचितं रत्यैव विद्यांङ्गना
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्वद्धो न सेवाञ्जलिः।। वैराग्यशतक-६३

पर्वतीय शिला जिनकी शय्या है, पर्वत की गुफा जिनका घर है, वृक्षों की छाल जिनका वस्त्र है, हिरण जिनके मित्र हैं, वृक्षों के कोमल फल जिनकी

वृत्ति है, जिनका झरनों का जल पेय है, विद्यारूपी स्त्री से जिन्हें रति है तथा जिन्होंने सेवा रूपी अञ्जली नहीं बाँधी है, मैं उन्हें परमेश्वर मानता हूँ।

विक्रम की सभा के नवरत्नों में क्षपणक का उल्लेख

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।[१२]

यहाँ विक्रम की सभा के नवरत्नों में क्षपणक को गिनाया है, किन्तु उसका नाम नहीं लिखा। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इन्हें जैनाचार्य सिद्धसेन माना है।

वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य का उल्लेख

वेदान्तसूत्र[१३] के शांकर भाष्य में द्वितीय अध्याय, दूसरा पाद ३३वें सूत्र नैकस्मिन्नसंभवात् की टीका में यों लिखा है–

"निरस्तः सुगतसमयः विवसनसमय इदानीं निरस्यते। सप्त चैषां पदार्थाः सम्मता जीवाजीवास्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्षा नाम।

अर्थात् बौद्धमत का खण्डन किया। अब वस्त्र रहित दिगम्बरों (विवसन समय) का मत खण्डित किया जाता है। इनके सिद्धान्त में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

महाभारत में अर्जुन को कृष्ण महाराज समझाते हुए कहते हैं–

आरोहत्स्वस्थे पार्थ गाण्डीवं च करे कुरु।

निर्जिता मेदिनी मध्ये निर्ग्रन्थो यस्य सम्मुखे।।

अर्थात् हे अर्जुन! तुम हाथ में धनुष लेकर रथ के ऊपर चढ़ो; क्योंकि इस पृथ्वी पर इन्द्रियविजेता निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु जिनके सामने हैं, उसकी उन साधुओं के दर्शन से निश्चित रूप से विजय होगी।

–वर्द्धमान कालेज, बिजनौर (उ. प्र.)

---

१. मुनिः कोपीनवासास्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते।। दयोदय पृ. २४ पद उद्धृत

२. देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽरम्यहमित्यादि।

३. देहमात्रावशिष्टो दिगम्बर आदि। जातरूपधरो भूत्वा इत्यादि। सन्यस्य

जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्य संन्यासीत्यादि च।। दयोदय पृ. २५ में उद्धृत

४. बाल्मीकि रामायण (सर्ग १८ पृ. २८)

५. स चास्य कथयामास शबरी धर्मचारिणीम, श्रमणाधर्मनिपुणामभिगच्छति राघवः।। बाल्मीकि रामायण १/१/५६-५७

६. अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षपणकरूपी कश्चन गत्वा प्रोवाच। पृ. ६ (पञ्चतंत्र) आन्नान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्बभूवः पृ. १० (वही)

७. नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काञ्चनमया भवन्ति।। वही पृ. ११

८. क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय।। वही पृ. ११,

९. वही पृ. १५

१०. कादम्बरी पृ. ११३

११. अस्ति चास्माकं सहाध्यायीमित्रमिन्दुशर्मा नाम ब्राह्मणः। स चौशनस्यां दण्डनीत्यां चतुः षष्ट्यंग ज्योतिः शास्त्रे च परं प्रावीण्यमुपगतः। स मया क्षपणकलिंगधारी नन्दंवंश वध प्रतिज्ञानन्तमेव कुसुमपुरमुपनीय सर्वनन्दामात्यैः सह सख्यं ग्राहितो विशेषतश्च तस्मिन्राक्षसः समुत्पन्नविश्रम्भः। तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति।।

१२. ज्योतिर्विदाभरण, १७१, जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. ४७६

१३. वेदान्त सूत्र (शांकर भाष्य २/२/३३)

(पेज २७ का शेष)

ये सब उदय स्थान तीर्थंकर प्रकृति के उदय सहित ही बन सकते हैं (देखो नक्शा पृ. ५८३) सारतः तीर्थंकर सत्त्वी आत्मा को केवलज्ञान होने पर तीर्थंकर प्रकृति के उदय का अभाव असम्भव है और उदय में समवसरणादिक विभूति होती ही है। (धवल १३/३६६) के अनुसार जस्स कम्मस्स उदएण. ..... तित्थं दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरंणाम। अर्थ– जिस कर्म के उदय से १२ अंगों की रचना करता है वह तीर्थंकर नाम है। वह रचना गणधर बिना नहीं बनती। गणधर के साथ गण या १२ सभा होती ही है। अरे! तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो अचिन्त्य विभूति का कारण है। यथा–यस्योदयात् आर्हन्त्यम् अचिन्त्यविशेष युक्तम् उपजायते तत्तीर्थंकरत्वं नाम प्रतिपत्तव्यम् (रा. वा. ८/११/४०) **अतः सुदृष्टितरंगिणी का यह वाक्य ठीक नहीं है,** क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के उदय वाले संयोगी केवली का विहार कम से कम भी वर्ष पृथक्त्व तक पाया जाता है। अतः कम से कम इतने वर्षों तक तीर्थंकर प्रकृति का उदय नियम से रहता है। फलस्वरूप आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ नहीं होता। **प्रमाण**– १. परमपूज्य धवला जी १२/४६४, धवला १५/६७, षटखं. परि. पृष्ठ ५०४, पंचसंग्रह पृ. ३७३-७४, संस्कृत पंचसंग्रह पृ. १७८ टीका, धवला ७/५७ आदि।

२०. **पद्मनन्दि पंचविंशति** (जीवराज ग्रन्थमाला) पृ. १६६-६७ में संस्कृत टीकाकार ने संस्कृत भी कहीं-कहीं अशुद्ध लिखी, बीच-बीच में हिन्दी का भी उन्होंने सहारा लिया तथा सैद्धान्तिक अशुद्धि भी उनकी टीका में है। एक नमूना देखिए–सम्यक्त्व में करण लब्धि के स्वरूप को लिखते हुए संस्कृत टीकाकार लिखते हैं–"अधःकरणं किम्? सम्यक्त्व के परिणाम मिथ्यात्व के परिणाम समान करै (सो अधःकरण)। द्वितीय गुणस्थाने। अपूर्णकरणं किम्? सम्यक्त्व के परिणामनिकी निवृत्ति नाहीं। दिन दिन चढ़ते जाहीं। यह अपूर्वकरण है।" इस प्रकार यह संस्कृत टीका अशुद्ध है।

२१. **नियमसार** की ५३वीं गाथा की टीका में पद्मप्रभमलधारीदेव ने जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुषों को सम्यक्त्व का अन्तरंग हेतु कहकर महान्

सैद्धान्तिक भूल की है। क्योंकि जिनसूत्र (जिनवाणी) के ज्ञाता पुरुष सम्यक्त्व के बहिरंग निमित होते हैं अन्तरंग नहीं। यह गलती डॉ. दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य ने दि. ६-१६ सित. १६८२ के जैनसंदेश में प्रकट की थी। डॉ. दरबारीलालली न्यायाचार्य के इस कथन से डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य सहमत रहे हैं। मैं भी सहमत हूँ।

(क्रमशः)

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु

वार्षिक मूल्य : ६ रु., इस अंक का मूल्य . १ रुपया ५० पैसे

यह अंक स्वाध्यायशालाओं एव मंदिरों की मॉग पर निःशुल्क

●

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

●

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक : श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-२

मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष—५२ किरण—२ अप्रैल-जून १९९९

१. अधम काज करि जग भरमावै

२. प्रबुद्ध श्रावक

३. कहाँ रुकेगा यह सिलसिला

४. पंचकल्याणक महोत्सव : एक पुनर्मूल्यांकन

५. व्यवहार नय कथंचित् सत्य, कथंचित् असत्य

६. गन्धहस्ति महाभाष्य का रहस्य

७. आर्षमार्ग के मूल स्वरूप का स्थितिकरण

८. नियमसार का वैशिष्ट्य

९. क्या खोया क्या पाया ?

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : ३२५०५२२

मिटै न मरिहैं धोय

जैनधर्म 'जिन' भगवान द्वारा आचरित और प्ररूपित अपरिग्रही धर्म है। इसके स्थायित्व और जीवन्त गुण भी इन्हीं गुणों पर आधारित हैं। जब तक इनके अनुरूप आचरण रहेगा, धर्म-मार्ग का प्ररूपण होगा और अपरिग्रहत्व की ओर जनता का झुकाव होगा, तब तक ही इस धर्म की प्रभावना होगी। पर, आज ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि उक्त गुणों की सर्वथा अवहेलना कर विपरीत आचरण किया जा रहा है। लोग प्रचार का नाम तो ले रहे हैं पर उस प्रचार में आचार-पालन और अपरिग्रहत्व को ताक में रख स्व-कीर्ति और परिग्रह बढ़वारी की चाह काम कर रही है। इस आर्थिक युग में सभी व्यर्थ के आडम्बरों में धन व्यय कर, मान-यशकीर्ति की चाह मन में रख धर्म प्रचार का ढोंग जैसा कर रहे हैं। जबकि धर्म धन से नहीं, आचार-पालन से होता है। धन से तो मात्र संसार बढ़ाने वाली स्थावर-जंगम सम्पदा का रख-रखाव मात्र ही किया जा सकता है।

आज तो लोगों में नाम की भूख इतनी प्रबल हो गई है कि वे धन-वर्षा कर अपने-अपने चारण-भाट तैयार करने की होड़ में हैं—कहीं पुरस्कारों को वितरण कर-कराकर और कहीं अन्य प्रलोभन दिखाकर। यदि चारण-भाटों की उत्पादक ऐसी ही फैक्टरियाँ खुलती रहीं तो वह दिन दूर नहीं, जब लोग आगमों तक में परिवर्तन कर स्वयं तीर्थंकरों की पंक्ति में अपना नाम लिखायेंगे और यह धर्म ह्रास की ऐसी भयावह कहानी बनेगी जो **'तिनके मुख मसि लागहि, मिटै न मरिहैं धोय'** की उक्ति को चरितार्थ करेगी।

हमारी दृष्टि में ऐसे अनेक चारण-भाट आज भी मौजूद हैं जो आर्थिक-लाभ की लालसा में अपने आगम पोषक वचनों से मुकर चुके हैं। ऐसा आभास होता है कि जैसे कुछ सेठों, त्यागी नामधारियों और कुछ तथाकथित विद्वानों ने स्वप्रतिष्ठादि लाभ में जिन-मार्ग तक को दाँव पर लगाने की साजिश जैसी कर रखी हो। स्मरण रहे कि 'तीनों लोकों' की संपदा भी वीतराग धर्म की रक्षा नहीं कर सकती। इस धर्म को तो वीतराग भाव परम-दिगम्बरत्व, आगम पोषण और सदाचार आदि ही सुरक्षित रख सकेंगे।

अनेकान्त

वर्ष ५२	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	अप्रैल–जून
किरण २	वी.नि.सं. २५२५ वि.सं. २०५५–५६	१९९९

अधम काज करि जग भरमावै

जे जिनवाणी को वेचि उदर भरते हैं।
कुल लाज छोड़कर अधम काज करते हैं।।

जो मोक्ष महल की ऊंची नीसरनी थी।
संसार समुद्र के तारन की तरणी थी।।
जिनवचन तनी आज्ञा सिर पर धरनी थी।
तजि विनय धर्म को लोभ अग्नि जरते हैं।
जे जिनवाणी......
जो जिनवाणी को सदा काल अरचै हैं
ते आठ दरव सों भाव सहित चरचै है
तह सफल कमाई का बहुधन खरचै हैं
ते उल्टा धन को लूट लेत परतै हैं।
जे जिनवाणी......
जे जैन हितैषी बने प्रेम दिखलावैं।
जे धन दे पोथी लेय जिन के गुण गावैं।।
चटकीले लेख लिखाय जगत भरमावैं।
भोले जन बिना विचार दाव में आवैं।।
'चम्पा' ऐसे जन निज परहित करते हैं।।
जे जिनवाणी......

प्रबुद्ध श्रावक

–डॉ० सुरेशचन्द्र जैन

लोक में सभी साधना करते हैं। चाहे वह साधना योग की हो या भोग की। जो योग साधना कर आत्म-कल्याण करते हैं वे लोकोत्तर कहलाते हैं और जो भोगोपभोग साधना में रमे रहते हैं वे जिस किसी तरह समय-यापन कर संसार से विदा हो जाते हैं। जैन धर्म में अतिवाद को कभी प्रश्रय नहीं दिया गया। यद्यपि योगी होना परम लक्ष्य है तथापि उसमें शक्ति के अनुसार त्याग और तप करने की प्रेरणा की गई है, आडम्बर जोड़ने की नहीं।

आज चारों ओर भोग संस्कृति का बोलबाला है। आयातित भोग प्रधान पाश्चात्य संस्कृति का सर्वत्र प्रभाव दृष्टिगत है। परिणाम स्वरूप दिशाहीन अमर्यादित आचार-विचार के दर्शन आसानी से किये जा सकते हैं। कुल व धर्म की मर्यादायें नित्यप्रति धूल-धूसरित हो रही हैं। विषय-वासना में स्वच्छन्द भाव से संलग्न गृहस्थ श्रावक की स्थिति शोचनीय तो है ही, उससे भी अधिक शोचनीय स्थिति साधुवर्ग की हो गई है। दिगम्बर परम्परा में साधु का विशिष्ट स्थान है। परमेष्ठी के रूप में मानकर उसकी नवधा भक्तिपूर्वक आराधना की जाती है। आचार्य समन्तभद्र ने साधुचर्या को लक्ष्य करके स्पष्ट कहा है–

विषयाशा वशातीतो निरारम्भो परिग्रहः।
ज्ञान ध्यान तपो रक्तः तपस्वी स प्रशस्यते।।–रत्नकरण्डश्रावकाचार

विषय आशा से दूर, आरम्भ परिग्रह से रहित ज्ञानध्यान में लीन तपस्वी प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

साधु और श्रावकों की आगमनिष्ठ चर्या में निरन्तर ह्रास की स्थिति सर्वानुगत है। साथ ही वर्तमान में विधि-विधानों और सामूहिक पूजा-पाठों की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है जो शुभ है, परन्तु जिन-मन्दिर5ों के स्थान पर इस प्रवृत्ति ने गृहस्थ श्रावकों के घरों में भी स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया है और जब

— शेष आवरण पृष्ठ ४ पर......

कहाँ रुकेगा यह सिलसिला?

– पद्मचन्द्र शास्त्री

हम काफी अर्से से कहते रहे हैं कि जैन वीतराग का धर्म है। यह तभी जिन्दा रह सकता है जब व्यक्ति में वीतरागता के भाव जागृत होते रहें। उसकी राग क्रिया भी व्रत, तप, त्याग आदि शुभ में साधन हो। पर, आज सब उल्टा ही देखने में आ रहा है। वीतराग जिनधर्म के नेता सांसारिक सुख-सुविधाओं से सरावोर हो रहे हैं। यहाँ तक कि विद्वान् और कतिपय साधु तक भी इस दौड़ में शामिल हो गए हैं। एक साधु विद्वानों को सम्मान में स्वचित्र वाली घड़ी और पुरस्कार बंटवाता है तो दूसरा उससे भी आगे निकलकर विद्वानों को चारण-भाट बनाने की होड़ में लग जाता है।

यह कोई नई रीति नहीं है। समाज में ऐसी प्रवृत्ति पहले से ही जड़ जमा चुकी है। पहले इसने (समाज ने) विद्वानों को तरसा-तरसा कर दर-दर का भिखारी बनाया। इसे 15-20 रुपये तक में सामूहिक नौकर रखा। मरता क्या न करता—वह सब कुछ सहन कर अपनी धर्मशिक्षा पर सिर धुनता रहा। अन्ततः उसने अपने बच्चों को पण्डित न बनाने का दृढ़-निश्चय कर नियम लिया और उन्हें लेक्चरार, डॉक्टर, प्रोफेसर बनाया। तब भी समाज को चैन न आया। उसने इन्हें भी पुरस्कार आदि के प्रलोभनों से अपने चारण-भाट बनाने की प्रक्रिया जारी रखी ताकि वे इनके गुणगान करते रहें। इन्हें मालायें पहिनायें आदि; आज सब ऐसा चल रहा है। ऐसे कार्यकलापों से कौन-सा मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। यह तो साधु, धनिक या विद्वान् जानते होंगे। विद्वानों और साधुओं की ऐसी धन-लिप्सा इससे पहले न देखी न सुनी।

पहले श्रेष्ठिवर्ग समाज का धर्मनिष्ठ श्रावक होता था और अन्य लोग

उनका अनुकरण करते थे, परन्तु अब तो सेठ साधुवर्ग का मुनीम जैसा बनकर रह गया है। कब-किसे-कितना दिया जाना है इसका निर्णय साधु करता है और इशारा मिलते ही सेठों में उसे पूरा करने की होड़ आसानी से देखी जा सकती है। मुनीम या व्यवस्थापक जैसी स्थिति को प्राप्त सेठ पिच्छि-कमण्डलु के सम्मुख विवश होकर 'हाँ' कहने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता और वह अपनी थैली का मुँह खोल देता है। प्रतिफल में उसे सम्मान से लाद दिया जाता है। मंच पर उसके गीत गाये जाते हैं और साधु के जयकारों से दिशायें गूँज उठती हैं। साधु उन जयकारों की ध्वनि से आत्म-मुग्ध होकर प्रसन्न मन से आशीर्वाद देता है वह भी इस आशा से कि आगे भी यह हमारा गुणगान करेगा। सम्मानगृहीता को गुणानुवाद करने के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं सूझता। इस प्रकार साधु-श्रेष्ठि-विद्वान् और श्रावकों के बीच धन एवं यशलिप्सा से परिपूर्ण लोकेषणा का दुश्चक्र चल पड़ा है जिसने समय पाकर गति पकड़ ली है तथा इस दुश्चक्र में दिगम्बरत्त्व घिस-पिटकर दम तोड़ रहा है। हम किंकर्तव्य विमूढ़ हैं कि यह सब क्यों हो रहा है? जहाँ पाक्षिक-नैष्ठिक श्रावक न हों, ठोस विद्वान् न हों वहाँ श्रावकशिरोमणि, दानवीर, समाजरत्न, विद्वत्‌रत्न जैसी उपाधियों का वितरण किया जाना स्वार्थसिद्धि का साधन नहीं है तो और क्या है?

आजकल कतिपय साधुवर्ग की प्रवृत्ति किसी से छिपी नहीं है। सब जानते हैं कि साधु का अधिकांश समय योजना निर्माण और उसके क्रियान्वयन में व्यतीत होता है और आश्चर्य की बात यह है कि यह सब कुछ धर्म और संस्कृति के नाम पर हो रहा है। श्रेष्ठि वर्ग तो अपने धन का सदुपयोग/दुरुपयोग कर यशस्वी होते हुए समाज और धर्म का ठेकेदार बन रहा है और साधुवर्ग आत्मकल्याण को छोड़कर कातर बुद्धि से सारा ध्यान अपनी शक्ति का तथाकथित रूप में सदुपयोग/दुरुपयोग कर रहा है। यह अन्तहीन सिलसिला कहाँ थमेगा इस ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है। इस गतिमान वृद्धिंगत दुश्चक्र की परिणति निश्चित ही धर्म एवं संस्कृति के लिए आत्मघाती होगी क्योंकि साधु समाज को दिशा देता है तो सुधी श्रावक धर्मायतनों की रक्षा तथा स्थितिकरण में प्रवृत्त होता है। जब दोनों ही स्वार्थान्ध हो जावें तो उस धर्म

और समाज का क्या हश्र होगा, इस कल्पना मात्र से हृदय सिहर उठता है।

तीर्थाधिराज सम्मेदशिखर की तीस चौबीसी प्रतिष्ठा के समय का जो खाका मिला है। यदि सच है, तो जिनधर्मानुयायियों के लिए शर्म की बात है कि एक ओर अग्निकाण्ड में दम तोड़ते-झुलसते व कराहते साधर्मी दर्शक और दूसरी ओर आयोजनों की पूर्णता की ललक। अच्छा होता कि रवीन्द्र जैन जैसे प्रतिष्ठित संगीतज्ञ ऐसे समय में राग मेघ-मल्हार छेड़ते और उपस्थित साधु-परमेष्ठी अपनी तप साधना का प्रभाव दिखाते तो शायद यह अनिष्टकारी घटना टल जाती और लगे हाथ उनकी प्रभावना में चार चाँद लग जाते। आखिर, इन योजनाबद्ध आयोजनों की क्या इतनी ही सार्थकता रह गई है कि श्रेष्ठिवर्ग अपने धन वैभव का प्रदर्शन कर अपनी और दिगम्बर साधुओं की प्रच्छन्न लोकैषणा को पूरा करने के लिए आयोजन करें? भले ही धर्म-संस्कृति की मर्यादा रहे या न रहे।

इतने बड़े आयोजन में यह खोजा जाना चाहिए कि कितने तीर्थयात्रियों ने श्रावकोचित व्रतादि ग्रहण किये। कोरी प्रतिष्ठा शून्य में शून्य के जोड़ने का निरर्थक प्रयास है। वैसे भी दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना आडम्बरयुक्त प्रदर्शन की मोहताज नहीं है। जिनधर्म की प्रभावना का आधार हमेशा से ही आचरण रहा है। आज भी जिनधर्म यदि कुछ जीवन्त है तो कुछ लोगों के आचरण के कारण। अतीत भी इसी कारण गौरवान्वित रहा है और आगे भी आचरण के आधार से ही जिनधर्म की प्रभावना हो सकेगी। आज सभी अपने-अपने आचरण से स्खलित हो रहे हैं इसीलिए आडम्बरों एवं वैभव प्रदर्शन का आश्रय लिया जा रहा है ताकि अपनी-अपनी कमियों को छिपाया जा सके।

अस्तु, अब समय आ गया है कि 'अहिंसा परमोधर्मः' के स्थान पर 'आचारो परमो धर्मः' को प्रतिष्ठापित किया जाये। वैसे भी हमारी संस्कृति त्याग प्रधान है उसमें राग-रंग आडम्बर और भौंडे अनावश्यक प्रदर्शन को स्थान न था और न है। हमारा मूल अपरिग्रह पर आधारित है—तीर्थंकर भी दिगम्बर (अपरिग्रही) हुए। फिर दिगम्बरत्त्व और अपरिग्रहत्व से विपरीत—संग्रहीवृत्ति इस धर्म को क्यों कर बचा सकेगी। कहीं यह विषवेल दिगम्बरत्त्व को ही न ले डूबे? यह प्रसंग शोचनीय है।

अब तो चेतो !

पंचकल्याणक महोत्सव : एक पुनर्मूल्यांकन

– श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन

अपने दिगम्बर जैन समाज में उत्सव प्रियता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। अब पहले से कई गुने अधिक पंचकल्याणक महोत्सव होने लगे हैं। जहाँ नई मूर्तियाँ या मन्दिरों की आवश्यकता है, वहाँ भी और जहाँ नहीं है, वहाँ भी। यों कहने के लिए तो ये धार्मिक अनुष्ठान हैं किन्तु धार्मिक संस्कारों को जीवन्त बनाये रखने की प्रेरणा इनसे अब शायद ही किसी को मिलती हो। आडम्बर और प्रदर्शन बहुत बढ़ गये हैं। एक ओर तो पंखों और टी०वी० सैटों से सज्जित बढ़िया और विशाल पंडाल तथा बिजली की भारी जगमगाहट दर्शकों के चित्त को आकर्षित करती है तो दूसरी ओर रवीन्द्र जैन, राजेन्द्र जैन, अनुराधा पोडवाल, अनूप जलोटा आदि के भजन-संगीत एवं कौशिक-नाइट या कवि सम्मेलन आदि के कार्यक्रम भी भारी भीड़ें खींचते हैं। अधिक से अधिक भीड़ें जुटाना ही आज किसी भी आयोजन की सफलता का मापदण्ड मान लिया गया है। एक-एक महोत्सव पर बीस-तीस लाख से लेकर दो-ढाई करोड़ रुपयों तक के व्यय का कीर्तिमान अब तक स्थापित किया जा चुका है।

यह सब देख-सुनकर हमें खुशी भी होती है और रंज भी। खुशी तो इसलिए कि इससे जैन समाज की बढ़ती हुई समृद्धि का परिचय मिलता है और रंज इसलिए कि पैसा पानी की तरह बहाकर भी परिणाम कुछ अच्छा नहीं दिख रहा है। इन समारोहों में धन की चमक और धमाके तो सुनाई देते हैं किन्तु धर्म का ह्रास होता हुआ नजर आता है। अब समय आ गया है कि हम महोत्सवों की आवश्यकता, महत्ता, रूप और स्वरूप के बारे में तटस्थ भाव से पुनर्मूल्यांकन करें।

प्रतिष्ठाओं में विघ्न-बाधायें : चिन्ता का विषय

पिछले कुछ वर्षों और महीनों में इस तरह के समारोहों में कई दुर्घटनायें हुई हैं। बिजली के शार्ट सर्किट से कई उत्सवों के पंडाल पलक झपकते-झपकते राख के ढेर में तब्दील होते हुए देखे गये हैं। सोनागिरि, आगरा, जयपुर आदि के अग्निकाण्ड ज्यादा पुराने नहीं हैं। गनीमत केवल यह रही है कि अग्निकाण्ड के समय पंडाल में कोई कार्यक्रम नहीं चल रहे थे, इसलिए धन-हानि तो हुई किन्तु जन-हानि नहीं। फिर भी इस तरह की घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो, इस पर मिल-बैठकर कुछ विचार तो करना ही चाहिए था, जो आज तक नहीं किया। शायद किसी बड़ी घटना का इन्तजार रहा होगा। आखिर वे भी सामने आ ही गईं। पिछले दिनों बड़ौत में सम्पन्न पंचकल्याणक महोत्सव के अन्तिम दिन रथयात्रा-मार्ग पर बिजली के तार उठाते समय करंट आ जाने से दो श्रमिक बालकों की मृत्यु हो गई और अभी हाल में श्री सम्मेदशिखरजी के तीस चौबीसी प्रतिष्ठा महोत्सव के पंडाल में लगी भयानक आग से सैकड़ों लोगों के शरीरों पर बड़े-बड़े फफोले पड़ गये। जले हुए लोगों में से पन्द्रह को गम्भीर हालत में गिरिडीह, बोकारो, हजारीबाग और कलकत्ता के अस्पतालों में दाखिल करना पड़ा, जिनमें से अब तक चार मौतों की पुष्टि हो चुकी है। तीर्थंकर के पिता एवं धर्मनिष्ठ उद्योगपति भाई आर० के० जैन की पूज्य माताजी भी उनमें से एक हैं। स्वयं माता-पिता एवं सौधर्म इन्द्र-इन्द्राणी भी आहत हुए हैं। सदमे से भी एक मृत्यु हुई है, ऐसी सूचना मिली है। इस घटना ने देश के लाखों लोगों को उद्वेलित कर दिया है। यदि कार्यक्रम चल रहा होता तो सैकड़ों मौतें हो सकती थीं, यह तर्क भी अब किसी की आँख के आँसू नहीं पोंछ सकता। किसी चमत्कार की आशा में इस उत्सव के निर्विघ्न समापन का भरोसा अपने मन में संजोये बैठे आयोजकों का हृदय भी इस दुर्घटना से चूर-चूर होकर रह गया है। अब भी यदि हमने अपनी उत्सव प्रिय रीति-नीति का पुनरावलोकन नहीं किया तो इतिहास कभी हमें क्षमा नहीं करेगा।

पंचकल्याणक महोत्सव : तब और अब

पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं के स्वरूप में तेजी

से परिवर्तन हुये हैं। पहले जहाँ इनके माध्यम से व्यक्ति और व्यक्तिसमूह के आचार-विचार को निर्मल बनाने पर जोर रहता था, वहाँ अब इन्हें मेला या प्रदर्शनी सरीखी भव्यता प्रदान करना ही हमारा एकमात्र उद्देश्य बन गया है। प्रतिष्ठा-पात्रों का चयन पहले व्यक्ति की योग्यता को देखकर किया जाता था, वहाँ अब उसकी आर्थिक स्थिति देखकर होता है। आयोजकों की दृष्टि केवल इस बात पर रहती है कौन कितना पैसा खर्च कर सकता है। धन को महिमा-मंडित करने से गुणों की उपेक्षा हुई है और इस कारण इन प्रतिष्ठाओं की गरिमाओं में निरन्तर गिरावट आती जा रही है।

❑ गत तीन या चार दशकों में हुये इस बदलाव को हम निम्न बिन्दुओं के रूप में रेखांकित कर सकते हैं—

❑ पहले कोई एक पुण्यात्मा जीवन भर की संचित न्यायोपार्जित सम्पत्ति का सदुपयोग करते हुये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराता था किन्तु आज की प्रतिष्ठायें चन्दा और बोलियों पर निर्भर होकर रह गई हैं। स्व० पं० जगमोहनलालाजी शास्त्री का स्पष्ट मत था—"**चन्दे या बोलियों से एकत्र धन (प्रायः नं० 2 का, जिसे ब्लैक मनी कहते हैं) से प्रतिष्ठा कराना शास्त्रविहित नहीं है। स्वात्म सम्पत्ति द्रव्येण अपने कमाये हुये द्रव्य से प्रतिष्ठा कराना चाहिये।**"

❑ पहले अपूर्ण मन्दिरों की प्रतिष्ठा नहीं होती थी किन्तु आज पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं के बाद भी मन्दिरों में राज-मजदूरों की कन्नी-वसूलियाँ महीनों बाद तक चलती रहती हैं। इससे प्रतिष्ठित मूर्ति का अविनय तो होता ही है, उनमें अतिशय भी नहीं आ पाता। अपूर्ण मन्दिर को पूरा करने के लिये इन प्रतिष्ठाओं के माध्यम से धन इकट्ठा हो जाता है, यह आयोजकों का सोच है और इसी के कारण ये प्रतिष्ठायें व्यावसायिक (धन कमाने की फैक्टरियाँ) बनकर रह गई हैं। इससे इनके धार्मिक स्वरूप को क्षति पहुँची है।

❑ पहले प्रतिष्ठाओं में शुद्ध धुले हुये (प्रासुक) वस्त्रों का उपयोग किया जाता था। किन्तु आज इन्द्रगण एवं राजा-महाराजा आदि किराये के वस्त्र पहनकर अपना पार्ट अदा करते हैं। ठेकेदारों से किराये पर प्राप्त इन्हीं वस्त्रों का उपयोग रामलीला या उर्स आदि के समय आयोजित नाटकों या कव्वालियों में भी होता है। हमारी दृष्टि में इस चलन से मंच की पवित्रता भंग होती है।

❑ पहले तीर्थंकर के माता-पिता की स्थापना मंजूषा आदि में की जाती थी किन्तु आज धनागम का मुख्य स्त्रोत बना लेने से व्यक्ति विशेष को यह पद दिया जाता है, जो परम्परा और आगम दोनों से विरुद्ध है। पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज ने तो किसी जीवित प्राणी में माता-पिता की स्थापना तो दूर, कल्पना करने तक का निषेध किया है। स्व० पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार ने भी साधारण गृहस्थ को भगवान का माता-पिता बनाने को भगवान का घोर अपमान एवं महान् दोष माना है (देखें—आगम मार्ग प्रकाशक : पृष्ठ १६५-१६७)। वयोवृद्ध एवं अनुभवी प्रतिष्ठाचार्य पं० नाथूलालजी शास्त्री ने तो इस संदर्भ में कुछ बड़े ही सटीक प्रश्न उठाये हैं—"ब्रह्मचर्य व्रत लेकर भी माता क्या गर्भ में तीर्थंकर को लाने का संकल्प कर सकती है? माता को स्टेज पर पलंग पर सुलाना क्या उचित है? बड़े घर की महिलायें क्या जनता के सामने सो सकती हैं?" (देखें—प्रतिष्ठा प्रदीप : पृष्ठ २१)

❑ मंत्र—संस्कारों से ही कोई मूर्ति पूज्य या प्रतिष्ठत होती है। इसीलिये पहले मूर्ति के आभ्यन्तर संस्कारों जैसे—गुणस्थान आरोहण, तिलकदान, अंकन्यास, अधिवासना नयनोन्मीलन, सूरिमंत्र, प्राणप्रतिष्ठा आदि क्रियाओं पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था। ये सम्पूर्ण क्रियायें सभी प्रतिष्ठेय मूर्तियों पर अलग-अलग किये जाने का विधान है किन्तु आजकल मंचीय कार्यक्रमों—बोलियाँ, नाटक, नृत्य, प्रहसन आदि की बाढ़ आ जाने और इन्हें ही पूरा महत्व दिये जाने से संस्कारारोपण के नाम पर कहीं-कहीं खानापूरी मात्र की जाती है, जो किसी भी तरह उचित नहीं है। **वाह्य क्रियायें पंचकल्याणक महोत्सव के शरीर की तरह हैं, जबकि आंतरिक क्रियायें उसकी आत्मा के समान हैं। आत्मा यदि कृश होगी तो मूर्ति-प्रतिष्ठा अपूर्ण ही मानी जायेगी।**

पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं के अवमूल्यन के आधारभूत इन कारणों को हमें अविलम्ब दूर करना चाहिये। हमारे साधुवृन्द, प्रतिष्ठाचार्यों एवं विद्वानों का यह विशेष दायित्व है कि जो क्रियायें शास्त्रसम्मत नहीं हैं, उन्हें प्रोत्साहन न दें। प्रतिष्ठाओं में सादगी आनी चाहिये। प्रदर्शन या दिखावे से अहंकार का पोषण तो हो सकता है किन्तु मनःशन्ति एवं आत्मलाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

कुछ अन्य विचारणीय बिन्दु

(१) हमें यह सोचना होगा कि पंचकल्याणकों में नृत्य के नाम पर डिस्कोटाइप उछलकूद की कोई सीमा-रेखा तय होनी चाहिये या नहीं? भगवान के जन्म और राज्याभिषेक के समय यदि एक या दो शास्त्रीय नृत्य हों तो नहीं खटकते किन्तु जब चाहा तब, इन्द्र-इन्द्राणियों का अपने-अपने पूजा-स्थान से उठ-उठकर नाचने लगना अवश्य ही अटपटा लगता है। हमें यह भी देखना होगा कि नृत्यों से भी वैराग्य-भाव जगना चाहिये, न कि राग-भाव। यह उत्सव राग-रंग का नहीं है, यह वीतरागता की ओर ले जाने वाला एक पवित्र यज्ञ है।

(२) हमारे पूज्य साधुवृन्द एवं आर्यिका माताओं को रात्रिकालीन सांस्कृतिक कार्यक्रमों में (एक-एक या दो-दो बजे तक) मंच पर तख्तासीन होकर बैठना चाहिये या नहीं, यह प्रश्न भी विचारणीय है। **पुरानी परम्परा तो यह है कि साधुजन प्रायः दीक्षा कल्याणक के दिन से ही मंच पर आते थे।** हमारी तो विनम्र प्रार्थना यही है कि गृहत्यागी पूज्य गुरुजन स्वयं ही इस पर विचार करें।

(३) इन्द्रादि एक भवावतारी होते हैं। जिन्हें भी इन्द्र बनाया जाये, उन्हें अभक्ष्य-भक्षण, रात्रि-भोजन एवं सप्त व्यसनों का त्यागी तो जीवन भर के लिये होना चाहिये तथा उत्सव के पाँचों दिन वे एकाशन करें। (मुनि दीक्षा के दिन तो उपवास रखने की सलाह दी गयी है) किन्तु संहनन की कमी ओर कालदोष से इसमें अब प्रायः यह छूट दे दी जाती है कि वे सायंकाल उकाली और ड्राईफ्रूट्स ले सकते हैं। इस छूट के बाद भी यदि इन्द्रादि गजयात्रा के समय बोतल से पल-पल पर पानी पीते हुये देखे जायें तो यह अच्छा नहीं लगता। कुछ लोग तो लुक-छिपकर पान मसाला आदि भी सेवन करते हुये सुने जाते हैं। इसे वे आहार में नहीं गिनते। यह सब उपहासजनक लगता है।

(४) भगवान आदिनाथ ने इक्षुरस का आहार लिया था और शेष तीर्थंकरों ने क्षीरान्न (खीर) से प्रथम पारणा किया था किन्तु आज पूर्णाहार (षट्रस व्यञ्जन) बनाये और भगवान की अंजुलि में परोसते हुये दिखाते जाते हैं। क्या यह तीर्थ प्रवर्तक के अनुकूल है?

(५) प्रतिष्ठाचार्य का एक गुण है उसका निर्लोभी होना। एक योग्य प्रतिष्ठाचार्य विधि-विधान की राशि का ठहराव नहीं करता। यजमान स्वेच्छा

से जो भी भेंट करता है, उसे संतोषपूर्वक स्वीकार करना ही उचित है किन्तु क्या सर्वथा ऐसा ही होता है?

(6) पंचकल्याणक का पंडाल समवशरण का प्रतिरूप है। वहाँ जूते-चप्पलें पहनकर प्रवेश करना या पैर पसारकर सोना क्या अविनय का कारण नहीं है?

संक्षेप में हम यह कहना चाहते हैं कि पात्रों की योग्यता एवं अर्थ की विशुद्धि को हमें सर्वाधिक महत्व देना चाहिये। बोलियाँ कम-से-कम हों तो उचित ही होगा। जैसे टी० वी० धारावाहिकों में बीच में आने वाले विज्ञापन दर्शकों का आनन्द कम करते हैं, उसी प्रकार बोलियों से भी प्रतिष्ठा में रस-भंग होता है। **प्रतिष्ठोपरांत भी यदि संक्लेश के कारण उपस्थित हों तथा सुख-साता का अनुभव न हो तो इसे व्यसनयुक्त जीव और अन्याय की कमाई का ही फल मानना चाहिये।**

जिस भूमि पर प्रतिष्ठा सम्पन्न होनी हो, उसका शोधन भी आवश्यक है। उस भूमि पर कूड़े-कचरे के ढेर या हड्डियों के टुकड़े आदि न हों, यह देख लेना चाहिये। वहाँ पहले से शुभ कार्य सम्पन्न होते रहे हों और उसके आस-पास का वातावरण निराकुलतापूर्ण हो तो श्रेयष्कर है। भूमि का प्रभाव भी प्रतिष्ठा-कार्यों पर पड़ता ही है।

साधु की मूर्तियाँ : एक नम्र निवेदन

> **"मूर्ति वीतरागता का आदर्श होना चाहिये। प्रतिष्ठेय मूर्ति में व्यक्तिविशेष का आकार नहीं होता।"**
> **—पं० नाथूलाल शास्त्री**

देवगढ़ में साधु, उपाध्याय एवं आचार्य परमेष्ठियों की प्रतिमायें मिलती हैं किन्तु उनमें से किसी की भी मुखाकृति व्यक्तिविशेष से नहीं मिलती। उन मूर्तियों से यदि पिच्छि-कमण्डलु का चिन्ह हटा दें तो उनकी और देव-प्रतिमाओं की मुखाकृतियों में अद्भुत साम्य पाया जाता है। **आगम में साधु की तदाकार मूर्ति का निषेध किया गया है।** यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों के चरण-चिन्ह तो मिलते हैं किन्तु मूर्तियाँ नहीं।

जहाँ व्यक्तिविशेष का आकार होता है, उसे मूर्ति नहीं स्टेच्यू कहते हैं। स्टेच्यू की प्रतिष्ठा और पूजा का विधान हमारे देखने में नहीं आया। हाँ, किसी

सार्वजनिक स्थान पर स्टेच्यू भी लगाये जा सकते हैं और उनसे प्रभावना भी हो सकती है किन्तु उनकी सुरक्षा करना समाज का विशेष दायित्व है। प्रायः देखा जाता है कि राजनेताओं के स्टेचुओं पर आये दिन विरोधी लोग उपसर्ग करते रहते हैं।

इस संदर्भ में उद्धरण के रूप में डायरी में संकलित दो श्लोक हम यहाँ प्रस्तुत करना चाहेंगे—

एदं युगीनाचार्यादिषु पूर्वाचार्यगुणस्य सतां वीक्ष्य
तत्पादुकाद्वयं आचार्यादि प्रतिष्ठवत् प्रतिष्ठापयेत्

—आचार्य नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ (अध्याय १७)

आचार्यादि गुणान् सतां वीक्ष्य यथायुगम्
गुर्वादिः पादुकेभक्त्या तन्न्यास विधिनान्यस्येत्

—पं० आशाधर प्रतिष्ठापाठ (अध्याय ६ : श्लोक ३६)

इन दोनों उद्धरणों के अनुसार आधुनिक (वर्तमान) आचार्यादिकों में पूर्वाचार्यों के समान गुणों का अवलोकन कर उनके चरण युगल अर्थात् चरण-पादुका आचार्यादि की प्रतिष्ठा के समान साक्षात् स्थापित करना चाहिये।

आज से लगभग पाँच दशक पूर्व कुन्थलगिरि में आचार्य श्री शान्तिसागरजी की मूर्ति-स्थापना का प्रसंग उपस्थित हुआ था, तब जैनमित्र के एक अंक में साधुविशेष की प्रतिमा स्थापित करने के इस प्रयास को लौकिक (व्यवहार) एवं पारमार्थिक (आगम) दृष्टि से अनुचित कार्य कहा गया था।

दिवंगत एवं विद्यमान साधुओं की मूर्तियाँ स्थापित करने का यह प्रसंग क्या है, इसलिये आगम के आलोक में विज्ञजन इस संदर्भ में प्रकाश डालें, यह हमारा विनम्र निवेदन है। हम विधिवेत्ता नहीं हैं। हमारी जानकारी अपूर्ण हो सकती है। फिर हमारा कोई हठाग्रह भी नहीं है। आगम-प्रमाण सामने आने पर हम कोई भी बात स्वीकार करने के लिये सदा संकल्पित हैं।

आशा है, इस आलेख में व्यक्त हमारे सुझावों पर समाज गहराई से विचार ही नहीं करेगा, बल्कि प्रतिष्ठाओं के बिगड़ते स्वरूप पर अंकुश लगाने की पहल भी उसकी ओर से होगी।

अध्यक्ष : भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद्
१०४ नई बस्ती, फीरोजाबाद - २८३२०३ (उ० प्र०)

व्यवहार नय कथंचित् सत्य, कथंचित् असत्य

–पं० जवाहरलाल, भीण्डर

व्यवहारनय अपनी दृष्टि से, अपनी अपेक्षा, अपने स्थान पर सत्य ही है। हाँ, वह निश्चय नय की अपेक्षा ही असत्य है। वह सर्वथा असत्य नहीं है। सौगत दर्शन (बौद्ध) कहता है कि निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार असत्य है तथा वही व्यवहार व्यवहारनय की अपेक्षा भी सत्य नहीं है। परन्तु जैनदर्शन में यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय असत्य है तथापि व्यवहार नय की अपेक्षा से व्यवहारनय सत्य है। व्यवहार नय गुण पर्याय कृत भेद, विकार तथा दो द्रव्यों का सम्बन्ध बताता है। यदि द्रव्य में अनन्त गुण-पर्यायों को नकारा जावे तो स्वयं द्रव्य भी असत्-शून्य हो जाएगा। देवसेनाचार्य कहते हैं कि एकान्त से एक (अभेद) रूप मानने पर सर्वथा एकरूपता (अभेद) होने के विशेष – भेद (गुणपर्यायकृत भेद) का अभाव हो जाएगा और विशेष का अभाव होने पर सामान्य (द्रव्य) का भी अभाव हो जाएगा और निर्विशेष सामान्य गधे के सींग के समान असत् ही होता है। सर्वथा अभेद (गुण-गाणी का अभेद आदि) पक्ष में गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी आदि सम्पूर्ण पदार्थ एकरूप हो जाएँगे। सम्पूर्ण पदार्थ के एक रूप होने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाएगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा। अतः गुणगुणी आदि भेद सत्य हैं। यदि सर्वथा शुद्ध स्वभाव ही सत्य माना जाए तथा विकार को झूठ माना जाए तो संसार का ही अभाव हो जाएगा। किंच आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानने वाले सांख्यमत का भी प्रसंग प्राप्त होगा, अर्थात् आत्मा को शुद्ध ही मानने पर जैनमत तथा सांख्यमत समान हो जाएँगे। जो ऐसा मानते हैं कि संसार

दशा में भी जीव सिद्ध के समान शुद्ध है तथा जीव कर्म से अबद्ध-अस्पृष्ट है वे सांख्यमतावलम्बी है, जैनमतावलस्बी नहीं। अतः **विकार (रागादि भाव) आत्मा में हैं, यह भी सत्य है।** यदि पर द्रव्य से सांसारिक सम्बधों को सर्वथा झूठा माना लाए तो "सीता राम की पत्नी थी", इत्यादि कथन सर्वथा झूठे सिद्ध हो जाएंगे। फिर वैसी स्थिति में या तो सीता राम के सिवा किसी अन्य की पत्नी थी, ऐसा मानना पड़ेगा (जो कि सर्वशास्त्रों से व सर्व दर्शनों से विरुद्ध है) या फिर ऐसा मानना पड़ेगा कि सीता किसी भी पत्नी नहीं थी। पर वैसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि, अन्तरात्मा एकदेश जिन बलभद्र राम का सीता को ढूँढ़ने के लिए वनों में भटकना, रोना, बिलखना, बेहोश होना तथा रावण के पास जाकर अपनी सीता माँगना तथा मना करने पर रावण से युद्ध कार्य; ये सब कार्य हास्यापद सिद्ध होंगे–निष्प्रयोजन सिद्ध होंगे। परन्तु प्रयोजन बिना तो चींटी भी कार्य नहीं करती। फिर सम्यग्दृष्टि राम का कार्य निष्प्रयोजन कैसे माना जा सकता है? अतः संसार अवस्था में—लोक में अनन्त असत्यों का लोप करके दो द्रव्यों के सम्बन्ध प्ररूपक एक सत्य में स्थापित कर देने वाला असद्भूत व्यवहार सर्वथा असत्य कैसे कहा जा सकता है? कदापि नहीं। यदि दो द्रव्य विषयक व्यवहार सर्वथा झूठ है तो हे ज्ञानियों! अग्नि से दूर क्यों भागते हो? पर असद्भूत व्यवहार कहता है कि अग्नि द्रव्यों को जलाती है, और अग्नि की पीड़ा (दाह) सही नहीं जाती, इसलिए हम भागते हैं। दो द्रव्य विषयक असद्भूत व्यवहार झूठ है तो केमच की फली तथा विद्युत् प्रवाह को हम क्यों नहीं छूते? क्यों डरते हैं।

यदि असद्भूत व्यवहार मिथ्या होता तो अग्नि से हम दूर नहीं भागते, पर वैसा देखा नहीं जाता। अतएव भेदग्राही हो या विकारग्राही या दो द्रव्यों का सम्बन्धग्राही व्यवहार नय हो; सभी व्यवहारनय सत्य हैं।

पर विशेष यह है कि सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा तो असम्बद्ध, अभेद ही है। आत्मा असम्बद्ध अभेदचिद्घन है उस पर दृष्टि करने से सम्यक्त्व होगा। इसी तरह हमें निर्विकार होना है, सिद्धवत् अकेला परद्रव्य से भिन्न होना है, अतः सम्यग्दर्शन का विषय अभेद, निर्विकार, परद्रव्यों से भिन्न ऐसा 'त्रिकाली ध्रुव सामान्य' होने से सम्यग्दर्शन के प्रकरण में सभी

भेदग्राही, विकारग्राही तथा भिन्न द्रव्यों से सम्बन्धग्राहक व्यवहार अविषय हो जाते हैं, गौण हो जाते हैं।

हमें चूंकि विकार छोड़ना है, हमें चूंकि परद्रव्यों के बन्धन (संबंध) से मुक्त होना है और निर्विकार-मुक्त होना है तो फिर विकारों तथा बन्धनों (सम्बन्धों) को विषय करने वाले नय यहाँ गौण कैसे नहीं होंगे? अवश्य होंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि विकार अवास्तविक हैं या दो द्रव्यों का संश्लेष सम्बन्ध मिथ्या है। परन्तु विकार तथा बंधन, नियम से आत्मा के दुःख के ही हेतु हैं अतः अध्यात्म के प्रकरण में, दृष्टि के प्रकरण में अभेद चैतन्य घन – त्रिकाली ध्रुव सामान्य चित् ही विषय होता है। वहाँ भेद गौण; विकार तथा सम्बन्ध हेय हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि नव पदार्थों में से मात्र एक निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, निज परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है, अन्य सभी रागादि भाव द्रव्यकर्म तथा शरीरादिक तो हेय ही है। फिर वैसी स्थिति में रागादि भाव, द्रव्यकर्म तथा शरीरादिक सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला व्यवहारनय उपादेय कैसे हो सकता है? भैया! चूंकि ज्ञानियों की दृष्टियों में बन्ध-बन्धन हेय है तथा मोक्ष उपादेय है तो फिर बन्ध (–भावकर्मबन्ध, द्रव्यकर्मन्ध तथा शरीरबन्ध) को विषय करने वाला व्यवहार नय कैसे उपादेय हो सकता है। बस इसी कारण व्यवहार को अध्यात्म के प्रकरण में हेय कहा है1 तथा निश्चय को उपादेय। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि बन्ध मात्र आत्मा ही उपादेय है, ऐसा ज्ञान में निर्णय आना चाहिए। यही सम्यक्त्व का उपाय है। इतना विशेष है कि नय तो ज्ञान के अंश होते हैं, अतः वे हेय-उपादेय नहीं होते, उनका जो विषय है वही हेय-उपादेय होता है।

इस सब उपर्युक्त कथन का सार यह है कि दृष्टि (अन्तर्दृष्टि) के समय तथा आत्मा में रमण (शुद्धोपयोग) के समय समस्त भेद, विकार, संबंधग्राहक व्यवहार हेय हो जाते हैं। वहाँ मात्र ध्रुव आत्मा विषय होता है जो अभेद, असम्बद्ध निर्विकार होता है।

निश्चय तथा व्यवहार ये दो नेत्र हैं। एक नेत्र चला जाए तो अपशकुन माने जाते हैं। वैसे एक नय को छोड़ कर शेष एक को ही मानना उचित नहीं। दृष्टि-सम्यग्दर्शन या शुद्धोपयोग की–के समय निश्चय की

विषयभूत आत्मा गृहीत होती है। उस समय व्यवहार गौण हो जाता है, अपलाप को प्राप्त नहीं। जैसे एक नेत्र से देखना हो तो दूसरा नेत्र मूँद लिया जाता है, फाड़ा नहीं जाता—नष्ट नहीं किया जाता।

रागादि भाव कथंचित् निश्चय से हैं, कथंचित् वयवहार से –

जैसे व्यवहार नय से जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता है वैसे जीव रागादि का कर्ता नहीं है। क्योंकि द्रव्यकर्म तो पर द्रव्य हैं जबकि रागादि भाव आत्मा के निज भाव हैं अतः द्रव्यकर्म तथा भावकर्म में तारतम्य दिखाने के लिए आचार्य श्री कहते हैं कि रागद्वेषादि भाव कर्मों का कर्ता तो अशुद्ध निश्चयनय से है तथा द्रव्यकर्म का कर्ता असद्‌भूत व्यवहार नय से है। परन्तु अशुद्ध निश्चय नय भी शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा व्यवहार नय ही है। क्योंकि यद्यपि भावकर्म (रागादि) चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा ये रागादि भाव अचेतन ही हैं। इस प्रकार असद्‌भूत व्यवहार की तुलना में तो रागादि भाव निश्चय से जीव् के हैं तथा शुद्ध निश्चय की दृष्टि से वे ही रागादि व्यवहार से हैं। क्योंकि परद्रव्यग्राही व्यवहार की अपेक्षा रागादि ग्राहक नय निश्चय नय है तथापि शुद्ध निश्चय की अपेक्षा वही रागादि ग्राहक नय व्यवहार है।

निश्चय तथा व्यवहार कथंचित् अभिन्न; कथंचित् भिन्न –

कथंचित् निश्चय नय तथा व्यवहार नय ये दोनों अभिन्न हैं क्योंकि दोनों एक ही श्रुतज्ञान से उत्पन्न हुए हैं, श्रुतज्ञान के भेद स्वरूप हैं, दोनों एक तराजू के दो पलड़ों की तरह हैं तथा दोनों जीव के "चित्" गुण स्वरूप हैं। कहा भी है—'पौद्‌गलिकः किल शब्दो द्रव्यं, भावश्च चिदिति जीवगुणः', अर्थात् द्रव्य नय पौद्‌गलिक शब्द रूप है तथा भावनय तो आत्मा का "चेतना गुण" ही है। अतः हे पण्डितो! नयों को भिन्न-भिन्न कहकर विवाद उत्पन्न मत करो। इस प्रकार अभेद होते हुए भी कथंचित् भिन्न-भिन्न है। स्वरूप, नाम, विषयभूत पदार्थ आदि की दृष्टि से नयों में भेद भी है। यथा निश्चय नय स्वात्मा को विषय करता है तो व्यवहार नय परपदार्थ तक को विषय

करता है। निश्चय स्व पर आश्रित है तो व्यवहार पराश्रित है। इत्यादि विषयभेद है।

नय तथा प्रमाण में कथंचित् भेद, कथंचित् अभेद –

नय भी ज्ञान-विशेष है और प्रमाण भी ज्ञान विशेष है। इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। हाँ, दोनों में विषय विशेष की अपेक्षा ही भेद है। जैसे नय द्रव्य के अनंत गुणों में से कोई सा विवक्षित अंश (गुण या पर्याय) विषय करता है। परन्तु प्रमाण उस अंश को तथा अन्य भी सर्व अंशों को; ऐसे सकल अनन्त गुणात्मक सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है, यही भेद है। इस प्रकार प्रमाण ज्ञान तथा नय ज्ञान सामान्य की अपेक्षा एक हैं तथा विषय की अपेक्षा ये भिन्न-भिन्न हैं। नय ज्ञान जानने वाले के अभिप्राय से सम्बन्ध रखता है पर प्रमाण ज्ञान जानने वाले का अभिप्राय विशेष न होकर ज्ञेय का प्रतिबिम्ब मात्र है। नयज्ञान में ज्ञाता के अभिप्रायानुसार वस्तु प्रतिबिम्बित होती है पर प्रमाण ज्ञान में वस्तु जो कुछ है वह प्रतिबिम्बित होती है।

–'स्याद्वाद' से साभार

अनुत्तरित-प्रश्न?

पिछले दिनों शिखरजी में अत्यन्त वैभवपूर्ण ताम-झाम के साथ आयोजित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधान अग्निकाण्ड के कारण खंडित हो गया। सुना है, उसी विधान को पुनः आरम्भ करके नितान्त सादगी से पूर्ण किया गया है। जब यह प्रतिष्ठा विधान सादगी से सम्पन्न हो सकता था तब ताम-झाम क्यों किया गया?

प्रश्न समाधान को शेष है कि क्या इस ताम-झाम के आयोजक एवं सहयोगी अग्निकाण्ड जैसी भयानक त्रासदी की जिम्मेदारी से बच सकते हैं?

गन्धहस्ति महाभाष्य का रहस्य

–प्रो० उदयचन्द्र जैन, सर्वदर्शनाचार्य

ऐसा कहा या सुना जाता है कि आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र पर 'गन्धहस्ति' नामक महाभाष्य की रचना की थी। किन्तु आश्चर्य की बात है कि द्वितीय शताब्दी में निर्मित इस महान् ग्रन्थ का आजतक किसी को दर्शन नहीं हुआ। अभी तक न तो किसी विद्वान् ने उसको देखा है और न उसके किसी वाक्य या शब्द को 'तदुक्तं गन्धहस्ति महाभाष्ये' लिखकर उद्धृत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 10वीं शताब्दी के बाद के जिन विद्वानों ने गन्धहस्ति महाभाष्य के विषय में जो कुछ शब्द लिखे हैं वे जनश्रुति के आधार पर ही लिखे हैं, किसी प्रामाणिक आधार पर नहीं। अकलंकदेव ने तत्त्वार्थसूत्र पर 'तत्त्वार्थवार्तिक' की रचना की तथा विद्यानन्द स्वामी ने इसी पर 'तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक' की रचना की। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन महान् आचार्यों को गन्धहस्ति महाभाष्य की गन्ध तक नहीं मिली। इसका कारण क्या है?

महान् अन्वेषक और चिन्तक आचार्य पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने स्वलिखित 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तक में पृष्ठ 212 से 243 तक गन्धहस्तिमहाभाष्य के विषय में बहुत ही सूक्ष्म विचार किया है। संभवतः उतना गंभीर विचार अन्य किसी विद्वान् ने नहीं किया। इसके फलस्वरूप वे केवल इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आचार्य समन्तभद्र रचित महाभाष्य नामक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है। परन्तु उसके अस्तित्व के विषय में वे कोई ठोस प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके। इसी प्रकार महान् विचारक श्रीमान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया ने भी लगभग 50 वर्ष पूर्व गन्धहस्ति महाभाष्य के

विषय में गहन विचार करते हुए कुछ लेख लिखे थे तथा वे अपने प्रथम लेख में ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि गन्धहस्ति महाभाष्य कल्पनामात्र है। और उनका यह निष्कर्ष आज भी बदला नहीं है। उन्होंने न्यायदीपिका की प्रस्तावना में भी इस विषय पर विशेष विचार किया है। परन्तु उनके निष्कर्ष में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रामाणिक जानकारी के अनुसार कुल 8 विद्वानों ने आचार्य समन्तभद्र के महाभांष्य का उल्लेख किया है। वे हैं—चामुण्डराय, लघु समन्तभद्र, अभयचन्द्र सूरि, धर्मभूषणयति, हस्तिमल्ल, अच्चपार्य, पं० बंशीधर शास्त्री और एक अज्ञात विद्वान्। ये सभी विद्वान् 10वीं शताब्दी के बाद के हैं। इनमें से केवल 5 विद्वानों ने महाभाष्य के साथ 'गन्धहस्ति' शब्द का प्रयोग किया है, शेष तीन ने नहीं। चामुण्डराय, अभयचन्द्र सूरि और धर्मभूषण यति ने गन्धहस्ति शब्द के बिना केवल महाभाष्य का उल्लेख किया है।

जिन विद्वानों ने आचार्य समन्तभद्र के महाभाष्य का उल्लेख किया है वे प्रायः सभी उल्लेख 12वीं शताब्दी के बाद के हैं। केवल एक उल्लेख ऐसा है जो 11वीं शताब्दी का है। वह उल्लेख विश्वप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति के निर्माता चामुण्डराय का है। चामुण्डराय ने 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराण' की कन्नड़ भाषा में रचना की थी। उसका एक पद्य इस प्रकार है—

(1) **"अभिमतमागिरे तत्त्वार्थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं बरेदुवचो।**
विभदिनिलेगेसेद समन्तभद्र देव रसमानरे बरुमोलरे।।"

इस पद्य में समन्तभद्र के नाम के साथ तत्त्वार्थभाष्यमं और तर्कशास्त्रमं ये दो शब्द आये हैं। इसका मतलब यह है कि आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्वार्थभाष्य की रचना की थी तथा वह तर्कशास्त्र का ग्रन्थ है। परन्तु उक्त पद्य में न तो गन्धहस्ति शब्द का उल्लेख है और न महाभाष्य का। उक्त पद्य से यह भी ज्ञात नहीं होता है कि चामुण्डराय ने महाभाष्य को देखा था। अधिक संभावना यही है कि उन्होंने जनश्रुति के आधार पर ही ऐसा लिखा होगा।

(2) लघु समन्तभद्र ने अष्टसहस्त्री की विषमपद तात्पर्यटीका के नाम से टिप्पण लिखे हैं और उन्होंने प्रथम टिप्पण में लिखा है—

"इह खलु पुरा सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात् कुर्वद्भिरुमास्वामिपादैराचार्य-

वर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्यागुरवः श्री स्वामी समन्तभद्राचार्याः।"

(3) शाकटायन व्याकरण के टीकाकार श्री अभयचन्द्र सूरि ने उपज्ञाते सूत्र की टीका में लिखा है–

"**आर्हतं प्रवचनं सामन्तभद्रं महाभाष्यम्।**" इत्यादि।

(4) धर्मभूषणयति ने न्यायदीपिका में लिखा है–

"तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसा प्रस्तावे।"

(5) जैनसिद्धान्त भवन आरा में एक अपूर्ण ताड़पत्रीय ग्रन्थ है। यह तत्त्वार्थसूत्र की कोई टीका है। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इसके लेखक विद्वान् ने मंगलाचरण करते हुए लिखा है–

"**तत्त्वार्थव्याख्यानषण्णवतिसहस्रगन्धहस्ति महाभाष्यविधायक देवागम कवीश्वर स्याद्वादविद्याधिपति समन्तभद्राय नमः।**" इत्यादि।

(6) कवि हस्तिमल्ल ने 'विक्रान्त कौरव' नाटक की प्रशस्ति में लिखा है–

"तत्त्वार्थसूत्र व्याख्यानगन्धहस्ति प्रवर्तकः।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद् देवागमनिदेशकः।।"

(7) श्री अच्चपार्य ने 'जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय' नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है–

"तत्त्वार्थसूत्र व्याख्यानगन्धहस्ति विधायकः।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद् देवागम कवीश्वरः।।"

(8) श्री पं० बंशीधर शास्त्री ने स्वसम्पादित अष्टसहस्त्री की भूमिका में समन्तभद्राचार्य का परिचय देते हुए लिखा है–

"**भगवता समन्तभद्रेण गन्धहस्तिमहाभाष्यनामानं तत्त्वार्थोपरि टीकाग्रन्थ चतुरशीतिसहस्रानुष्टुभ्मात्रं विरचयता**" इत्यादि।

इन 8 उल्लेखों में सबसे प्राचीन उल्लेख चामुण्डराय (11वीं शताब्दी) का है और सबसे नवीन उल्लेख श्री पं० बंशीधर जी शास्त्री (20वीं शताब्दी) का है।

क्या आप्तमीमांसा गन्धहस्तिमहाभाष्य का अंग है?

कुछ विद्वान् आप्तमीमांसा को गन्धहस्तिमहाभाष्य का प्रथम प्रस्ताव

या प्रकरण मानते हैं। यदि ऐसा है तो आचार्य समन्तभद्र को आप्तमीमांसा के अन्त में ऐसा लिख देना चाहिए था—'इति गन्धहस्तिमहाभाष्ये प्रथमः प्रस्तावः समाप्तः।' यदि वे ऐसा लिख देते तो इस विषय में सारा सन्देह समाप्त हो जाता और यह निश्चित हो जाता कि आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित गन्धहस्तिमहाभाष्य अवश्य रहा है। परन्तु आचार्य समन्तभद्र ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है। प्रत्युत आप्तमीमांसा की अन्तिम कारिका—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये।। 114।।

से यही ज्ञात होता है कि यह कृति गन्धहस्तिमहाभाष्य का अंग न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

गन्धहस्ति शब्द का अर्थ क्या है?

मैंने कई विद्वानों से गन्धहस्ति शब्द का अर्थ पूछा। किन्तु कोई भी विद्वान् इसके अर्थ को बतलाने में समर्थ नहीं हुआ। इसका मतलब यही है कि गन्धहस्ति शब्द निरर्थक (अर्थरहित) है। नामनिक्षेप के अनुसार किसी व्यक्ति का नाम 'गन्धहस्ति' रखा जा सकता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम 'हाथीसिंह' रख दिया जाता है तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। किन्तु किसी शास्त्र को किसी विशेष कारण के बिना 'गन्धहस्ति' कहना उचित प्रतीत नहीं होता है।

क्या गन्धहस्ति शब्द का प्रयोग तीर्थंकर के लिए होता है?

एक विशिष्ट विद्वान् ने लिखा है कि गन्धहस्ति शब्द का प्रयोग तीर्थंकर के लिए भी होता है। उनका यह कथन समझ में नहीं आया। 'जिनसहस्रनाम स्तोत्र' में भगवान् के 1008 नाम बतलाये गये हैं। इन 1008 नामों में भी 'गन्धहस्ति' नाम नहीं है। इन नामों में प्रत्येक नाम का एक निश्चित अर्थ है। ऐसा कोई नाम नहीं है जिसका कोई अर्थ न हो। यदि गन्धहस्ति शब्द तीर्थंकर के लिए प्रयुक्त होता है तो उसका कोई अर्थ अवश्य होना चाहिए। किसी विशेष अर्थ के बिना तीर्थंकर के लिए गन्धहस्ति शब्द का प्रयोग करना ठीक प्रतीत नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'गन्धहस्ति पार्श्वनाथ' समवशरण में विराजमान हैं तो

उसका ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं लगता है।

महाभाष्य के गन्धहस्ति नामकरण का कारण क्या है?

मान लिया जाय कि आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र पर महाभाष्य लिखा था, किन्तु यहाँ जिज्ञासा यह है कि उसका नाम गन्धहस्ति कैसे पड़ा। गन्धहस्ति शब्द समन्तभद्र का उपनाम या विशेषण भी नहीं था। यदि ऐसा होता तो उनके द्वारा लिखे गये महाभाष्य को गन्धहस्ति महाभाष्य कहा जा सकता था। परन्तु किसी भी ग्रन्थ में समन्तभद्र के साथ गन्धहस्ति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। किसी ने भी किसी भी ग्रन्थ में 'गन्धहस्ति समन्तभद्र' ऐसा नहीं लिखा है। अतः इस विषय में दो बातें विशेषरूप से अन्वेषणीय हैं–

(1) 10वीं शताब्दी तक किसी भी विद्वान् को गन्धहस्तिमहाभाष्य का पता क्यों नहीं चला?

(2) तथा इस महाभाष्य का नाम गन्धहस्ति क्यों हुआ?

उक्त दोनों बातों का सही समाधान क्या है यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। यदि कोई विशिष्ट विद्वान् उक्त बातों का प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत कर सकें तो बहुत अच्छा रहेगा। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि गन्धहस्ति महाभाष्य नहीं था तो उसकी जनश्रुति कैसे प्रचलित हुई? ये सारी बातें बहुत ही रहस्यपूर्ण हैं और इनका कोई भी युक्तिसंगत समाधान दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

गन्धहस्तिमहाभाष्य का परिमाण कितना था?

जिन 8 विद्वानों ने गन्धहस्तिमहाभाष्य का उल्लेख किया है उनमें से केवल दो विद्वानों ने उसके परिमाण के विषय में लिखा है। एक विद्वान् ने लिखा है कि गन्धहस्तिमहाभाष्य 84 हजार श्लोक प्रमाण था तथा दूसरे विद्वान् ने लिखा है कि यह 96 हजार श्लोक प्रमाण था। इनमें से किसे प्रमाण माना जाय। जब किसी ने गन्धहस्तिमहाभाष्य को देखा ही नहीं है तब उसके परिमाण के विषय में कुछ लिखने को कल्पना ही कहा जा सकता है। उसे 84 हजार अथवा 96 हजार श्लोक प्रमाण होने का प्राचीन आधार क्या है, इसे जानने का मैंने प्रयत्न किया किन्तु इसमें मुझे सफलता नहीं मिली। अतः उसके 84 हजार या

96 हजार श्लोक प्रमाण होने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभाष्य के महत्त्व को बढ़ाने के लिए जिस विद्वान् को जितनी अधिक संख्या समझ में आई उसने उतनी अधिक संख्या लिख दी।

क्या गन्धहस्तिमहाभाष्य विदेश में है?

कुछ लोगों की ऐसा मान्यता है कि गन्धहस्तिमहाभाष्य विदेश में पहुँच गया है। अभी गन्धहस्तिमहाभाष्य के विदेश में होने की एक नवीन सूचना ज्ञात हुई है। यह सूचना ख्यातिप्राप्त दिगम्बर जैन मुनि परमपूज्य श्री सुधासागरजी महाराज ने आप्तमीमांसा का परिचय देते हुए एक पुस्तक (आचार्य विद्यासागरजी महाराज के पद्यानुवाद संग्रह) में इस प्रकार दी है–

"गन्धहस्तिमहाभाष्य जर्मनी में किसी जगह जमीन के अन्दर रत्नपिटारे में सुरक्षित रखा हुआ है।"

परन्तु उन्होंने यह नहीं लिखा कि उन्हें ऐसी सूचना किसी प्रत्यक्षदर्शी पुरुष ने जर्मनी से आकर दी है अथवा अन्य किसी स्रोत से प्राप्त हुई है। मैं समझता हूँ कि उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका कोई प्रामाणिक आधार अवश्य होगा। अतः जैन समाज के प्रभावशाली नेताओं तथा उद्योगपतियों का कर्तव्य है कि वे सुरक्षित रखने वाले व्यक्ति को यथेष्ट अर्थराशि देकर गन्धहस्तिमहाभाष्य को जर्मनी से वापस लाने का पूर्ण प्रयत्न अवश्य करें। जब वह जर्मनी में सुरक्षित रखा हुआ है तब उसे वहाँ से वापस लाना असंभव नहीं है।

क्या किसी दार्शनिक ग्रन्थ में गन्धहस्ति शब्द का उल्लेख है?

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दिगम्बर परम्परा के किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ में गन्धहस्ति शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता है।

इसके विरीत श्वेताम्बर परम्परा के दार्शनिक ग्रन्थ 'स्याद्वादमंजरी' में दो बार गन्धहस्ति शब्द का उल्लेख उपलब्ध होता है। तथाहि –

(1) "यद्यपि अवयवप्रदेशयोः गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिकाचिन्तया।"–पृष्ठ 98

(2) "विशेषार्थिना नयानां नामान्वर्थविशेषलक्षणाक्षेपपरिहारादिचर्चस्तु

भाष्य- महोदधिगन्धहस्तिटीकान्यायावतारदिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीयः।"—पृष्ठ 320

इनमें से पहले उल्लेख में ग्रन्थ का नाम केवल 'गन्धहस्ति' आया है, परन्तु दूसरे उल्लेख में ग्रन्थ का पूरा नाम 'भाष्यमहोदधिगन्धहस्ति टीका' लिखा है।

यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पर 18 हजार श्लोक प्रमाण 'बृहद्वृत्ति' लिखने वाले सिद्धसेनगणि का 'गन्धहस्ति' विशेषण था। वे आचार्य भास्वामी के शिष्य थे और उन्हें 'गन्धहस्ति सिद्धसेनगणि' कहा जाता था। उनका समय 8वीं शताब्दी है। उन्होंने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पर जो बृहद्वृत्ति लिखी उसे स्याद्वादमंजरी में 'भाष्यमहोदधि' अर्थात् महाभाष्य कहा गया है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पर लिखे जाने के कारण उसके महाभाष्य होने में कोई सन्देह नहीं है। इसीलिए तो उसे भाष्यमहोदधि कहा गया है। तथा उसी को 'गन्धहस्ति टीका' भी कहा गया है। क्योंकि वह टीका 'गन्धहस्ति' नामक साधु के द्वारा लिखी गई है।

'भाष्यमहोदधिगन्धहस्तिटीका' इस पद के नीचे टिप्पणी में लिखा है—

"गन्धहस्ति सिद्धसेनगणिविरचिता तत्त्वार्थाधिगमभाष्यबृहद्वृत्तिः। तदेव भाष्यमहोदधिः, तदेव गन्धहस्ति टीका।"

इस प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर साहित्य में गन्धहस्तिमहाभाष्य का सद्भाव है, किन्तु दिगम्बर साहित्य में गन्धहस्तिमहाभाष्य था या नहीं, यह एक रहस्य ही बना हुआ है।

संभव है कि 'अनेकान्त ज्ञान मन्दिर शोध संस्थान' बीना (म० प्र०) के संस्थापक श्रीमान् ब्र० संदीपजी जैन सरल द्वारा गन्धहस्तिमहाभाष्य की खोज के लिए घोषित 266666 रुपयों के पुरस्कार की विपुल राशि इस रहस्य पर पड़े हुए आवरण को उठाने में समर्थ हो सके। हम सब को इस विषय में उनकी सफलता के लिए श्रीमज्जिनेन्द्रदेव से कामना करना चाहिए।

जैनं जयतु शासनम्।

– 22 बी, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-5

सामायिक चिन्तन

आर्षमार्ग के मूल स्वरूप का स्थितिकरण

–शिवचरनलाल जैन

भ० महावीर के शासन के अनुसार ही आ० कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि,

एक्को जिणस्स रूवं विदयं उक्किट्ठ सावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसण णत्थि।। अष्टपाहुड़

एक जिनेन्द्र भगवान का यथाजात ज्ञानरूप, अर्थात् मुनि का रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक, ऐलक, क्षुल्लिका) का रूप और तीसरा आर्यिका का रूप ये तीन लिंग ही दर्शनीय हैं। चौथा कोई लिंग वन्दनीय नहीं है।

ज्ञातव्य है कि इन तीनों वेषों के साथ मयूर पिच्छिका जीवदया पालनार्थ अथवा संयमोपकरण रूप में होती है यह सर्वप्रमुख बाह्य चिन्ह है जिसके द्वारा हम श्रावकगण दर्शन करते हैं, वैयावृत्य करते हैं। यह मार्ग ही आर्षमार्ग कहलाता है। यह संघ व्यवस्था अनवरत चली आ रही है।

आ० भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली के समय घटित दुर्भिक्ष के समय श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ जिसने आर्षमार्ग से विरुद्ध श्वेत-पट के साथ, कंबल, ऊन की पीछी के साथ ही मुनि अवस्था की अनार्ष घोषणा की। मूलसंघ दिगम्बर जैन संघ के अन्तर्गत श्रमण की यथार्थ रूप में रक्षा करते हुए अग्रणी महर्षियों ने अद्यावधि आर्षमार्ग को हम तक पहुँचाया है।

अब से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हुई। उन्हें नग्नवेष सह्य नहीं था। धर्मान्धता के कारण मंदिरों व नग्न मूर्तियों का विध्वंस किया जाने लगा। यथाजात वेषधारी मुनियों के बिहार पर रोक

लगाई गई। मूर्तियों के साथ ही अपार शास्त्र भंडारों को भी नष्ट किया गया। मन्दिरों में यथोचित समय और विधि के अनुसार पूजा पाठ में भी समस्या खड़ी होने लगी। यथोचित आर्ष मार्ग का पालन असंभव हो गया। नग्न साधुओं का विहार असंभव हो गया। उस समय धर्म पर आई हुई आपत्ति के निवारणार्थ तथा स्थिति का पालनार्थ श्रावकों ने साधुओं से वहिर्गमन के विहार के समय वस्त्राच्छादन की प्रार्थना की। साधु अधिकांश में धर्म पालन की असंभवता देखकर समाधि को सन्नद्ध हुए थे, किन्तु सभी के आग्रह पर अपवाद रूप में वस्त्र धारण (गेरुआ वस्त्र) स्वीकार कर लिया। ताकि धर्म तो जीवित रहे कुछ विकृत वेश ही क्यों न हो। आगे चर्चा यह निर्धारित की गई कि साधु की पूर्व की भाँति ही नग्न दीक्षा, मठ मन्दिरों में यथासंभव अथवा गुप्तरूप में नग्न रूप से अवस्थिति, आहार के समय वस्त्राच्छादन, शास्त्रों की सुरक्षा, लेखन कार्य, पठन-पाठन पर विशेष ध्यान, गुरुकुल व्यवस्था सहित सामायिक आदि आवश्यक पालन। साथ ही प्रभावशाली लोगों राजा, मंत्री, धनाढ्य एवं शिक्षित वर्ग एवं आम जनता को भी प्रभावित करने हेतु अतिशय प्रभावकारी वेष खडाऊँ, चाँदी की पिच्छिका (मयूर पिच्छ) सिंहासन, चंवर, पालकी सवारी, मठाधीश स्थिति को निर्मित किया गया। यंत्र, मंत्र, तंत्र द्वारा चमत्कारी प्रभाव दिखाकर दि० जैन धर्म की प्रभावना तथा काल में विवशता वश अपनाये गये वेष द्वारा की जाने लगी। इसी परिणति को भट्टारक परम्परा कहा गया। इन्हीं को मुनि, आचार्य आदि से सम्बोधित किया गया। यद्यपि पूर्व में विकृति को आधार स्वरूप मानकर योग्यकाल में उसे छोड़कर भद्रबाहु स्वामी के मूल संघ को पुनः स्वीकार करने का लक्ष्य रखा गया था। परन्तु कई शताब्दियों की लीक बन जाने के कारण एवं पद व्यामोह, ख्याति, पूजा, नाम के कारण इस परम्परा को भी कुछ भट्टारकगण अपनाये रहे हैं। उत्तर भारत में भी स्थान-स्थान पर जैसे ग्वालियर, दिल्ली, मथुरा, शौरीपुर में भट्टारकों की गद्दियां भी प्रायः सर्वत्र थी। दक्षिण भारत में तो जैनधर्म का डंका इन्हीं भट्टारकों द्वारा बजाया जाता था। इन भट्टारकों का निर्ग्रन्थ परम्परा (सुधारवेश में), शास्त्र भंडार एवं वृद्धि, मन्दिर आदि को सुरक्षित रखने में समाज पर महान् उपकार है। उनका

योगदान भुलाया नहीं जा सकता। इन भट्टारकों में बड़े विद्वान्, प्रभावनाकारी, लेखक आदि हुए हैं। जिनके नाम सहस्रों की संख्या में प्राप्त हैं।

समय के साथ ही मुस्लिम शासन के बाद से भट्टारकों की गद्दियाँ समाप्त होने लगी थीं। आज भारत में केवल 6-7 गद्दियाँ ही शेष हैं। आ० शान्तिसागर जी महाराज ने पूर्णरूप से आगमोक्त मुनिरूप को स्वीकार कर विशेष रूप से श्रमण परंपरा को चालू किया है। अब समय की आवश्यकता है कि भट्टारक वर्ग मूलसंघ की प्रभावना हेतु उस समय की आवश्यकता रूप धारण किए अयोग्य वेष का परित्याग कर जनता को शुद्ध मार्गदर्शन करें। पिच्छी को देखकर ही सामान्य जनता भेष को स्वीकार करती हैं। पिच्छिका धारण करने का अधिकार उपरोक्त तीन—मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक को ही है। अतः पिच्छिका के उस अधिकार को स्वयं न लें। अन्य भी आर्षमार्ग के विरुद्ध जो क्रियाकलाप हैं वे भी त्याज्य हैं। बड़े हर्ष की बात है कि कुछ भट्टारकों ने सवारी का त्याग किया है। समय की मांग है कि इस आर्षमार्ग की रक्षा हेतु भट्टारकीय स्थिति के स्थान पर आर्षमार्ग मूलसंघ की प्रभावना हेतु अविलम्ब कदम उठाया जाये। भट्टारक वर्ग का यह कदम अति प्रशंसनीय होगा। वे जिस रूप को भी (मुनि-क्षुल्लक) चाहे अंगीकार करे। चाहे ब्रह्मचारी या गुरुकुल आचार्य के रूप को स्वीकारें—प्रशस्त होगा। विशेष के लिए साधु वर्ग से मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उनका स्वागत ही होगा।

आर्षमार्ग की मूल रूप में सुरक्षा सभी के लिए करणीय है। इस समय स्थिति अनुकूल है। यथोक्त संघ चर्या में बाधा नहीं है। आज भारत में लगभग 500 पिच्छिकाधारी दर्शनीय वेष में विचरण कर रहे हैं। भट्टारकों का हमारे हृदय में सम्मान है और वे यदि आर्षमार्ग के मूल स्वरूप को सहयोग प्रदान करेंगे तो जन-जन के बधाई के पात्र होंगे। उनकी विशेष प्रतीति जैन समाज करेगा। ठीक भी है वेश सम्बन्धी भ्रमात्मक स्थिति के त्याग से ही प्रेम, संगठन, आर्षमार्ग का यथोक्त रूप प्रकट होंगे और वह हर्ष का विषय होगा।

– मैनपुरी

नियमसार का वैशिष्ट्य

–डॉ० ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'

कुन्दकुन्द के नियमसार की कतिपय मौलिक विशेषताओं को निम्नांकित रूप में देखा जा सकता है—

1. **श्रुत–**: कुन्दकुन्द ने स्वयं नियमसार को "श्रुत" नाम देकर इसे केवलियों और श्रुतकेवलियों द्वारा उपदेशित कहा है। संस्कृत टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने इसे "परमागम, परमेश्वर शास्त्र और "भागवत शास्त्र" कहा है तथा इसके अध्ययन का फल शाश्वत सुख (निर्वाण) बताया है।

2. **नियम–**: "णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरितं।" (गा. 3) अर्थात् नियम से करने योग्य कार्य नियम है, वह दर्शन, ज्ञान वह, दर्शन और चारित्र है। यहां नियम को मोक्ष का उपाय या मोक्षमार्ग और उसका फल निर्वाण बताया गया है। जैनागमों तथा संस्कृत के पारम्परिक ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं भी इस अर्थ में "नियम" शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द का यह विशिष्ट प्रयोग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग व्यवहारनय से नियम कहा गया है। शुभाशुभ रूप वचन तथा राग आदि भावों को निवारण करके आत्मा का ध्यान करना, नियम से नियम है अर्थात् निश्चय से नियम है।

3. **तत्त्वार्थ–**: नियमसार में विविध गुणों और पर्यायों से संयुक्त जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, आकाश ओर काल इन छह द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा गया है। यहाँ तत्त्वार्थ या द्रव्य को परिभाषित नहीं किया गया है। आगे "जीवादि दव्वाणं" तथा "एदे छद्दव्वाणि" शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है। छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य कायवान् तथा बहुप्रदेशी होने

से अस्तिकाय कहे गये हैं। काल द्रव्य कायवान् नहीं होने से तथा एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है।

प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार की पहली गाथा में अर्थ (पदार्थ) को द्रव्यमय कहा गया है। पंचास्तिकासंग्रह में एक सौ दो गाथाओं में पांच अस्तिकायों और छह द्रव्यों का विवेचन हुआ है। वहीं 103वीं गाथा में कहा गया है कि जो प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह को जानकर रागद्वेष को छोड़ता है, वह संसार के दुःखों से छुटकारा पा लेता है। 104वीं गाथा में पांच अस्तिकायों और छह द्रव्यों के लिए (अट्ठं) शब्द का प्रयोग हुआ है। 160वीं गाथा में धर्मादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया है।

नियमसार में द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहे जाने से ज्ञात होता है कि पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य को तत्त्वार्थ मानने की प्राचीन परम्परा रही है, जिसे कुन्दकुन्द ने यथावत् सुरक्षित रखा किन्तु उनके समय तक सात तत्त्वों या नौ पदार्थो की मान्यता भी विकसित हो चुकी थी, इसलिए उन्होंने पंचास्तिकायसंग्रह में इनका भी समावेश कर दिया।

4. **ज्ञान-दर्शन का स्वभाव-विभाव कथन**–: जीव उपयोगमय होता है। उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का होता है। अतीन्द्रिय और असहाय केवलज्ञान स्वभावज्ञान कहा गया है। तात्पर्यवृत्तिकार ने इसके भी दो भेद किये हैं–कार्य स्वभावज्ञान और कारण स्वभावज्ञान। समस्त प्रकार से निर्मल केवलज्ञान कार्यस्वभाव ज्ञान है और परम पारिणामिक भाव में स्थित तीन काल सम्बन्धी उपाधि रहित आत्मा का सहज ज्ञान कारणस्वभाव ज्ञान कहलाता है। पुनः विभाव ज्ञान भी संज्ञान और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूप दो प्रकार का होता है। संज्ञान के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान ये चार भेद तथा अज्ञान के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन भेद होते हैं। इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हुए।

दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव–दो भेद होते हैं। इन्द्रियों की सहायता से रहित असहाय केवलदर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है। टीकाकार ने इसके भी कारण स्वभाव दर्शन और कार्य स्वभाव दर्शन ये दो भेद

किये हैं। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन ये तीन विभावदर्शनोपयोग के भेद हैं। इस प्रकार दर्शनोपयोग के चार भेद हुए।

5. **स्वभाव-विभावपर्याय**–: पर्याय के दो भेद हैं–स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। कर्मों की उपाधि से रहित जो पर्याय है, वह स्वभाव पर्याय है। तात्पर्यवृत्तिकार ने इसके कारण शुद्ध पर्याय और कार्यशुद्ध पर्याय ये दो भेद बताये हैं। विभाव-पर्याय के मूलतः चार भेद हैं–नर, नारक, तिर्यंच और देव। पुनः इनके क्रमशः दो, सात, चौदह और चार भेद कहे गये हैं।

6. **कारण-कार्य परमाणु**–: परमाणु का लक्षण कहते हुए कुन्दकुन्द ने कहा है कि जो स्वयं ही आदि, मध्य और अन्त है, इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है तथा अविभागी है, वह परमाणु जानो। उसके कारण और कार्य परमाणु रूप दो प्रकार हैं। जो परमाणु पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं का हेतु है, वह कारण परमाणु है। जो स्कन्धों के अवसान से उत्पन्न होता है, वह कार्य परमाणु है। यहाँ परमाणु के स्वभावगुण और विभावगुण, स्वभावपर्याय और विभावपर्याय तथा निश्चय और व्यवहार नय से पुद्गल द्रव्यत्व कहे गये हैं।

7. **हेय और उपादेय**–: नियमसार में कुन्दकुन्द ने सम्यग्ज्ञान के लिए "सण्णाणं" शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने संशय, विमोह और विभ्रम रहित तथा हेय और उपादेय तत्त्वों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बताया है। वे कहते हैं कि जीव के स्वभाव स्थान, मानापमानभाव स्थान, हर्षभाव स्थान अहर्षभाव स्थान, स्थितिबन्ध स्थान, प्रकृतिबन्ध स्थान, औदयिकभाव स्थान, उपशमस्वभाव स्थान, चतुर्गति भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंकादि पर्यायें, संस्थान और संहनन नहीं है। व्यवहारनय की दृष्टि से उक्त सभी भाव जीव के माने गये हैं, किन्तु यथार्थ में ये सब परद्रव्य हैं, इसलिए हेय। त्याज्य कहे गये हैं।

निश्चय नय से जीवात्मा निर्दण्ड, निर्द्वन्द, निर्मम, निष्कल, निरालम्ब, नीराग, निर्मूढ़, निर्दोष, निर्भय, निर्ग्रन्थ, निःशल्य, समस्त दोष रहित, निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान, निर्मद, रूप-रस गंधरहित, अव्यक्त, चेतना गुणवाला, अशब्द, किसी लिंग द्वारा अग्राह्य और किसी भी आकार द्वारा अनिर्दिश्य होता है। ऐसे शुद्ध जीव या आत्मतत्त्व को उपादेय कहा गया है। उक्त हेय

और उपादेय तत्त्वों का संशय, विमोह तथा विभ्रम रहित ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

8. **आलोचना के चार भेद–:** कुन्दकुन्द कहते हैं कि कर्म और नोकर्म रहित तथा विभावगुणों और पर्यायों से भिन्न अपनी आत्मा का ध्यान करना आलोचना है। आगम में उसके आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि ये चार भेद कहे गये हैं। आलोचना का ऐसा विभाजन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

9. **षडावश्यक: प्राचीन परम्परा–:** आवश्यक श्रमण की दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग से छह आवश्यक मान्य हैं। किन्तु नियमसार में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि और भक्ति इन छह का इसी क्रम से विवेचन किया गया है। वहाँ इनके साथ आवश्यक शब्द का प्रयोग नहीं है। किन्तु प्रतिक्रमणादि का कथन करने के बाद अठारह गाथाओं में निश्चय आवश्यक का स्वरूप कहा गया है। वहीं आवश्यक शब्द भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

प्रतिक्रमण में अतीत कालीन दोषों का निराकरण किया जाता है। अनागत दोषों के परिहार के लिए प्रत्याख्यान होता है। वर्तमान दोषों की आलोचना की जाती है। उक्त तीनों आवश्यकों में विचारित दोषों के शोधन के लिए प्रायाश्चित ग्रहण किया जाता है। प्रायश्चित तपश्चरण स्वरूप होता है। इसमें ही कायोत्सर्ग भी समाहित है। इस प्रकार दोषमुक्त होने के बाद परमसमाधि और भक्ति होती है। इनमें सामायिक और ध्यान ही प्रमुख क्रियाएं हैं। यह आवश्यकों की प्राचीन परम्परा है, जिसे कुन्दकुन्द ने नियमसार में सुरक्षित रखा है। यहाँ यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के समय तक आवश्यकों की प्राचीन परम्परा प्रचलित थी, जिसे बाद में संशोधित करके नवीन परम्परा को विकसित किया गया।

10. **अन्तरात्मा-बहिरात्मा तथा अवश-अन्यवशश्रमण–:** जो श्रमण आवश्यक से युक्त, जल्परहित और धर्म और शुक्लध्यान में परिणत होता है, वह अन्तरात्मा है। जो श्रमण आवश्यक से हीन जल्प सहित और ध्यान

विहीन होता है, वह अवश कहलाता है और उसी अवश श्रमण के ही आवश्यक कर्म होता है। जो श्रमण अशुभ भावों में, शुभ भावों में और द्रव्यगुण-पर्याय में चित्त को लगाता है, वह अन्यवश होता है। उसके आवश्यक कर्म नहीं होता। श्रमण के ये भेद सर्वप्रथम नियमसार में बतलाये गये हैं। इस प्रसंग में पश्चात्वर्ती ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द का ही अनुकरण किया है।

11. **ज्ञान, दर्शन तथा आत्मा का स्वपर प्रकाशकत्व**–: नियमसार में ज्ञान, दर्शन और आत्मा की एकता तथा इनके स्पपरप्रकाशकत्व का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं रहता और आत्मा के बिना नहीं रहता। इस कानि से उस चिन्तन के संकेत मिलते हैं, जिसमें ज्ञान को आत्मा से भिनन माना गया है। इसी तरह कहीं ज्ञान को मात्र पर प्रकाशक माना गया है। यहां कुन्दकुन्द ने ज्ञान, दर्शन और आत्मा के स्वपर-प्रकाशकत्व का तर्कपूर्ण विवेचन किया है, जो उत्तरवर्ती दार्शनिकों को चिन्तन के लिए आदर्श रूप में उपलब्ध हुआ।

12. **ज्ञान और दर्शन युगपत् होते हैं**–: नियमसार में कहा गया है कि केवली के ज्ञा ा और दर्शन सूर्य के प्रकाश और ताप की तरह युगपत् (एकसाथ) होते है। यह कथन सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने किया है, जिसे बाद के सभी दार्शनिकों ने अपनाया है।

13. **सर्वज्ञता**–: नियमसार में जैनदर्शन की सर्वज्ञता विषयक यह अवधारणा अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है कि केवली सर्वज्ञ व्यवहार से समस्त लोकालोक को जानता है, किन्तु निश्चय से वह अपने को ही जानता है। सर्वज्ञता विषय विचार कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है। नियमसार में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है।

14. **निश्चय और व्यवहारनय**–: आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहारनय का पर्याप्त उल्लेख हुआ है, किन्तु उन्होंने निश्चय नय तथा व्यवहारनय को परिभाषित नहीं किया है। उन्होंने यह अवश्य बताया है, यह निश्चयनय का कथन है और यह व्यवहारनय का। कुन्दकुन्द से पूर्व किसी ग्रन्थकार ने नयों को निश्चय और व्यवहार नाम नहीं दिया। कुन्दकुन्द के

ग्रन्थों में निश्चयनय द्रव्यार्थिक नय के समान तथा व्यवहारनय पर्यायार्थिक नय के समान है। वे निश्चयनय को परमार्थ, शुद्ध और भूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनय को अभूतार्थ और अशुद्ध बतलाते हैं। कुन्दकुन्द के टीकाकारों एवं उत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थकारों ने उक्त नयों के अनेक भेद-प्रभेद किये हैं।

15. **निर्वाण कहाँ हैं?**–: नियमसार में निर्वाण के सन्दर्भ में कहा गया है कि केवली की आयु का क्षय होने से शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश हो जाता है। पश्चात् वे शीघ्र एक समय मात्र में निर्वाण को प्राप्त करते हैं। वे जनम, जरा और मरण रहित, परम, आठ कर्मरहित, शुद्ध, ज्ञानादि चार स्वभाव वाले, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालंब हो जाते हैं। जहाँ दुःख, सुख पीड़ा, बाधा, मरण, जन्म, इन्द्रियाँ, उपसर्ग, मोह, विस्मय, निद्रा, तृषा, क्षुधा, कर्म, नोकर्म, चिन्ता, आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान नहीं है, वहीं निर्वाण है। निर्वाण का इतना स्पष्ट विवेचन कुन्दकुन्द से पूर्व कहीं उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अनेक दृष्टियों से कुन्दकुन्दकृत नियमसार का विशेष महत्व है क्योंकि उनके ग्रन्थों में जिनवाणी की मूल विरासत सुरक्षित है।

–प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

क्या खोया क्या पाया?

– डॉ. सुरेशचन्द्र जैन

आजकल धार्मिक आयोजनों-विधि-विधानों, सम्मेलनों की सूचनाओं से जैन पत्र-पत्रिकायें अटे हुए हैं और धर्मपरायण नामधारी समाज के लोग भी तन मन धन से इस होड़ में शामिल हैं। यों तो धार्मिक आयोजन कुछ समय के लिए शान्ति का वेदन कराने में समर्थ हो सकते हैं परन्तु अधिकांश मात्र रस्म-अदायगी या प्रदर्शन के निमित्त मात्र सिद्ध होते रहे हैं। उदाहरण के तौर पर पिछले वर्ष हस्तिनापुर में एक अखिल भारतीय स्तर का कुलपति–विद्वत् सम्मेलन का आयोजन भारी तामझाम और प्रचुर धन व्यय करके आयोजित हुआ था, जिसमें पुरजोर कोशिश करने के बावजूद कुछ ही गणमान्य कुलपति सम्मिलित हुए थे। राजनीतिक रैलियों के समान ही सामाजिकों की भीड़ का प्रबन्ध हुआ था और फलश्रुति यह हुई थी कि सभी विश्वविद्यालयों में जैनचेयर स्थापित की जाय। उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए एक कुलपति महोदय ने यहाँ तक कह दिया था कि मात्र इतने के लिए यह तामझाम अनावश्यक और निष्प्रयोजन ही है। जैनचेयर के लिए तो वैधानिक शासकीय प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिए थी।

उक्त प्रतिक्रिया समसामयिक थी, फिर यह भी गौरतलव है कि जिन विश्वविद्यालय में जैनचेयर स्थापित हैं वहाँ क्या हो रहा है? वस्तुतः जैनधर्म दर्शन के अध्ययन के प्रति समाज में कभी जोश नहीं जागा परिणाम स्वरूप न तो छात्र मिलते हैं और न ही जैनचेयर की स्थापना का वास्तविक लाभ ही समाज को मिल पाया है। नियुक्त व्यक्ति यद्वा-तद्वा निर्वाह कर रहे हें। यह तो गनीमत है कि उनका वित्त-पोषण राजकोष

से होता है अन्यथा वहाँ भी कब का ताला पड़ चुका होता। समाज का यह सौभाग्य था कि पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के अनथक प्रयासों से अनेक जैन संस्थाओं की स्थापना हुई और वहाँ से शताधिक विद्वानों की शृंखला समाज को मिली परन्तु उसका समुचित उपयोग नहीं हुआ और उन अध्येता मनीषी विद्वानों ने समाज की उपेक्षा से पीड़ित होकर अपनी संतानों व शिष्यों को उस ओर प्रेरित नहीं किया। आज जो भी इस क्षेत्र में हैं वे अपनी आर्थिक विवशता या यश और आकांक्षा के निमित्त हैं।

यही स्थिति शोध संस्थानों और शोधपीठों की है। यद्यपि उनकी स्थापना के पीछे हमारे गुरुओं की प्रेरणा से समाज में विशेष ललक पायी जाती है, परन्तु स्थापित शोध संस्थान उपयुक्त संसाधनों के अभाव में दम तोड़ रहे हैं या निष्क्रिय हैं। मात्र संस्थागत ढांचा खड़ा कर देने से उद्देश्य की प्राप्ति क्यों कर सम्भव हो सकेगी इस ओर कभी गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता नहीं समभी गई। होना तो यह चाहिए था कि शोध संस्थान के लिये उपयुक्त संसाधन जुटाये जाते और उनसे निकलने वाले शोधार्थियों को समुचित रोजगार की व्यवस्था की जाती। कितने आश्चर्य की बात हे कि 2500वें निर्वाणोत्सव के समय से ही एक जैन विश्वविद्यालय की स्थापना की चर्चा की जाती रही है और इस निमित्त सोनागिर तीर्थक्षेत्र पर सिंहरथ पंचकल्याणक जैसे बृहद् आयोजन कर अकूत धन संग्रह भी किया गया परन्तु आज तक जैन विश्वविद्यालय की सत्ता देखने में नहीं आई। हाँ, कभी-कभार कुछ हजार रुपयों का आयव्ययक एक पत्रिका में देखने में आ जाता है। विश्वविद्यालय तो दूर, हम किसी एक ऐसे सक्षम शिक्षण संस्थान की भी स्थापना और संचालन में विफल रहे हैं जिसके माध्यम से जैनधर्म दर्शन के निष्णात विद्वान् तैयार होते और समाज उन्हें युगानुरूप रोजगार की व्यवस्था करता।

भगवान महावीर निर्वाणोत्सव के समय से समाज में एक नयी प्रवृत्ति ने जड़ जमायी है। धार्मिक प्रभावना के बहाने रथ प्रवर्तन के माध्यम से समाज का दोहन किया जाता रहा है। इस समय सारे देश में ऋषभदेव

समवसरण रथ विहार के माध्यम से धर्म प्रभावना हो रही है। साथ ही भारी धन संग्रह का उपक्रम भी। उसके समापन हेतु फिर एक वृहद् आयोजन की रूपरेखा बनेगी और पिच्छि-कमण्डलु की ओट में मूक होकर समाज अपने धन का सदुपयोग होते देखकर आत्ममुग्ध होगी।

ऐसा हो चुका है जब श्री महावीर जी में भूगर्भ से प्राप्त जिनबिम्ब का सहस्राब्दि महोत्सव मनाया गया। चतुर्थकाल की आस्थागत मान्यता को धता बतलाते हुए पुरातत्त्वविदों द्वारा एक हजार वर्ष जितनी प्राचीनता पर मुहर लगवायी गई और भारी तामझाम के साथ आयोजन की रूपरेखा बनी। लाखों यात्रियों का अनुमान कर तम्बुओं की व्यवस्था की गई। वी. आई. पी. कोटे में आवासीय कमरों को आरक्षित किया गया। फिर भी आयोजन के समय अधिकांश तम्बू खाली ही पड़े रहे। भारी नियमित अंशदाताओं की उपेक्षा करते हुए अल्पराशि दातारों को अभिषेक का अवसर दिया गया। आश्चर्य की बात है कि श्री महावीर जी जैसा क्षेत्र जो स्वयं में इतना सातिशयी है कि वहाँ बिना याचना के ही धन वर्षा होती रहती है। हमेशा मेले जैसा माहौल रहता है फिर सहस्राब्दि के बहाने राशि नियतकर अभिषेक की अनुमति की योजना क्यों कर निर्मित्त हुई? सुना तो यह भी गया है कि मानस्तम्भ स्थित जिनबिम्ब के प्रक्षाल के लिये भी राशि निर्धारित करने की योजना थी उसे एक सक्षम सामाजिक कार्यकर्त्ता के प्रबल विरोध पर स्थगित करना पड़ा। राशियों के आधार से अभिषेक की अनुमति देना किस आगम के अनुसार है? इसकी खोज होनी चाहिये। जैन समाज श्री महावीर जी के प्रति हमेशा उदार रहा है वहाँ का कोई भी कार्य धनाभाव के कारण कभी नहीं रुका। आयोजन की जो कमेटी कभी दान की याचना नहीं करती थी इस अवसर पर उसे अभिषेक के कलश बेचने की याचना करनी पड़ी। हाँ, एक उपलब्धि तो यह हुई कि इतने बड़े आयोजन और वैभव की चकाचौंध से प्रभावित होकर वहाँ के कर्मचारियों ने वेतनवृद्धि के लिए हड़ताल कर दी और कमेटी को वेतनवृद्धि करनी पड़ी। फलस्वरूप अब एक बड़ी राशि हमेशा देनी पड़ेगी। दूसरी गौरवपूर्ण उपलब्धि यह हुई कि पूर्व में किन्हीं व्यक्ति

विशेष को उनके अविनयी व्यवहार के कारण मंदिर प्रवेश पर लगा प्रतिबन्ध इस अवसर पर उठा लिया गया। इस प्रशंसनीय कार्य से समूची जैन समाज की छवि निखरी और एक जघन्य पाप से मुक्ति मिली।

श्री महावीर जी तीर्थक्षेत्र के प्रबन्धकर्त्ता यदि यह बीड़ा उठा लेते कि जैन विश्वविद्यालय का उपक्रम वे करेंगे तो यह कार्य सहज ही हो सकता था और समाज की चिर-प्रतीक्षित आकांक्षा की सफल पूर्ति भी होती। परन्तु समाज तो मात्र पिच्छि-कमण्डलु की मर्यादा पालन के लिए है और शेष सब धार्मिक आयोजन धर्म-दोहन और शोषण के निमित्त बन रहे हैं। चिन्तनीय है कि हमने उक्त बड़े आयोजनों से क्या खोया क्या पाया?

श्रावक-शिरोमणि कौन?

जैनियों में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ बतलाई गई हैं जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठता को लिए हुए हैं। अन्तिम ग्यारहवीं प्रतिमा श्रेष्ठतम है और इसके पालक ऐलक क्षुल्लक 'श्रावक शिरोमणि' होते हैं। गृहवासी अव्रती श्रावक शिरोमणि नहीं हो सकता। हाँ, जैनियों की समाज में किन्हीं अपेक्षाओं की दृष्टि से किसी को समाज शिरोमणि कहा जा सकता है। गृहवासी को श्रावक शिरोमणि जैसा चारित्रिक पद देना धर्म की हंसी ही है। खोज का विषय है कि ऐसी उपाधि देने की कुत्सित प्रवृत्ति कब, किसने और किस स्वार्थ वश चलायी? ऐसी उपाधियों के चलन को विराम देना चाहिये। धर्मनिष्ठ चारित्र कच्ची मिट्टी का कोई खिलौना नहीं जिसे तोड़ा-मरोड़ा जा सके।

विधानकर्ता-प्रतिष्ठाचार्य और साधुवर्ग तक इस आगम विपरीत क्रिया को बढ़ावा दे रहे हों तब आगमोक्त दृष्टि से इसकी समीक्षा की जानी चाहिए कि क्या यह प्रवृत्ति आगम परम्परा सम्मत है? विधि-विधान और पूजा-पाठ तो मंदिर जी में ही होना श्रेष्ठ है, क्योंकि वहाँ का वातावरण तनावमुक्त शुद्ध और शान्त होता है। दूसरे, वीतरागी जिनबिम्ब के सम्मुख वीतरागभाव बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है। वहाँ आगम विरुद्ध प्रसाद वितरण जैसी भौंडी औपचारिकताओं का निर्वाह भी नहीं करना पड़ता है जबकि घरों में पूजा-पाठ कराने के बाद श्रावकों में प्रसाद-वितरण का चलन हो चला है। साधुओं द्वारा भी प्रसाद-वितरण में सक्रिय भूमिका का निर्वाह किये जाने का प्रचार आगम विहित और मुनिचर्या के अनुकूल कैसे है? प्रसाद-वितरण तो तभी होगा जब आराध्य को भोग चढ़ाया जाय और जैन परम्परा में न तो भोग चढ़ाने की प्रथा है और न प्रसाद-वितरण की! अन्यथा दिगम्बर जैन परम्परा और अन्य परम्पराओं में अन्तर ही क्या रह जायेगा? आडम्बरयुक्त परम्पराओं को विवेक शून्य होकर आत्मसात् करना आत्मघाती कदम होगा। अस्तु, जैनों की स्वस्थ परम्परा तभी जीवन्त रह सकेगी जब स्वाध्याय के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं का बोध जाग्रत हो और प्रबुद्ध श्रावक बनने की दिशा में प्रवृत्त हों।

'अनेकान्त'
आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रु.
वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अंक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे
यह अंक स्वाध्यायशालाओं एवं मंदिरों की माँग पर निःशुल्क

●

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

●

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2
मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

वीर सेवा मन्दिर का

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष–52 किरण–3 जुलाई-सितम्बर 1999

1. ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै!

2. हिमालय के दिगम्बर मुनि की सल्लेखना
–पद्मचन्द्र शास्त्री

2. समाज में श्रावकाचार संहिता की आवश्यकता
–डॉ. जयकुमार जैन

3. शिथिलाचार : एक अनुचिन्तन सर्वाधिक चिन्तनीय है शील-शैथिल्य स्थानकवासी जैन महासंघ का एक अभूतपूर्व निर्णय
–नरेन्द्र प्रकाश जैन

4. अनेकान्त सिद्धान्त का दुरुपयोग
–कुमार अनेकान्त जैन

5. शिखरजी के प्रति हमारे पूर्वजों का योगदान और हमारा कर्त्तव्य
–सुभाष जैन

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 3250522

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

अनेकान्त

वर्ष ५२	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	जुलाई–सितम्बर
किरण ३	वी.नि.स. २५२४ वि.सं. २०५४	१९९९

ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै !

ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै
सो फेर न भव में आवै।। ऐसा०।।

संशय विभ्रम मोहविवर्जित, स्वपर स्वरूप लखावै।।
लख परमातम चेतन को पुनि, कर्मकलंक मिटावै।। ऐसा०।। 1।।
भव तन भोग विरक्त होय तन, नग्न सुभेष बनावे।
मोह विकार निवार निजातम, अनुभव में चित्त लावै।। ऐसा०।। 2।।
त्रस थावर वध त्याग सदा परमाद दशा छिंटकावै।
रागादिक वश झूठ न भावै, तृणहु न अदत्त गहावै।। ऐसा०।। 3।।
बाहिर नारि त्याग अर, अन्तर चिद्ब्रह्म सुलीन रहावै।
परम अकिंचन धर्मसार सों द्विविध प्रसंग बहावै।। ऐसा०।। 4।।
पंच समिति त्रयगुप्ति पाल व्यवहार चरन मग धावै।
विचित्र सकल कषाय रहित है शुद्धातम थिर धावै।। ऐसा०।। 5।।
कुंकुम पंक दास रिपु तृणमानि व्याल मराल समभावै।
आरत रौद्र कुध्यान विदारे, धर्मशुक्ल को ध्यावै।। ऐसा०।। 6।।
जाकै सुख समाज की महिमा कहत इन्द्र अकुलावै।
'दौलत' तास पद होय दास सो अविचल ऋद्धि लहावै।। ऐसा०।। 7।।

'अनेकान्त'
आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रु.
वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अंक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे
यह अंक स्वाध्यायशालाओं एवं मंदिरों की माँग पर निःशुल्क

●

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

हिमालय के दिगम्बर मुनि की सल्लेखना

–पद्मचन्द्र शास्त्री

हमने आज से लगभग 29 वर्ष पूर्व एक पुस्तक लिखी थी–'हिमालय में दिगम्बर मुनि'। सुना है उसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जो शुभ चिन्ह है यदि हमारी भावनानुरूप प्रचार हुआ है तो। हमारा उद्देश्य था कि किसी खास व्यक्ति विशेष की नहीं, अपितु दिगम्बरत्व के बाह्याभ्यन्तर स्वरूप, दिगम्बर की शान्त मुद्रा और दिगम्बरत्व की छवि की जनता पर ऐसी छाप पड़े जो भुलाए न भूले। ये भाव हमें तब उठे जब चौरासी मथुरा चातुर्मास के अवसर की चारित्र चक्रवर्ति आचार्य शान्तिसागर महाराज की हमारे हृदय में अंकित सौम्य छवि उभरकर हमारे स्मृति पटल पर आ गई। उन दिनों हम मथुरा गुरुकुल में विद्यार्थी थे और पुस्तक लेखन के समय हिमालय के दि० मुनि में लीन।

हिमालय-यात्रा में हमें चारित्र चक्रवर्ति आचार्य शान्तिसागर जी और मुनि विद्यानन्द जी में अन्तर नहीं रह गया था। सम्भवतः ऐसा इसलिए हुआ हो कि चरित्र-नायक हिमालय के दिगम्बर मुनि आचार्य शन्तिसागर की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से विरासत में प्राप्त गुणों का अनुसरण कर रहे हों, जो उन दिनों उनकी चर्या से मुखरित होता था। जैसी सूनी ऊबड़-खावड़, नीरव पर्वत-शृंखलाओं में दिगम्बर-मुनि का वास-विहार होना चाहिए। साधुवृत्ति के अनुरूप प्रारम्भिक प्रवाह के दौर में मुनि विद्यानन्द जी की चर्या निर्बाध एवं निर्विघ्न सम्पन्न हो रही थी। हमारा सौभाग्य था कि हमें उन दिनों ताम-झाम युक्त घनी आबादी वाले कोलाहली शहरों से दूर अनायास ही दिगम्बर साधु की उस छवि को गहराई से पढ़ने का जो अवसर मिला वह छवि शायद देवताओं को भी दुर्लभ हो। जैसा अनुभव हुआ लिख दिया था। उसके बाद हमें अन्य कहीं किसी के वैसे दर्शन नहीं हुए।

सल्लेखना

सल्लेखना शब्द कानों में पड़ते ही हमें चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर महाराज का पुनः स्मरण हो आया। हमारी जानकारी में जैसी विधिवत् सल्लेखना

उनमें घटित हुई वैसी विशिष्ट पुण्यशाली जीवों की ही होती होगी। अन्यथा व्यवहार में जैसे मृत्यु को प्राप्त हर जीव को 'स्वर्गवासी हो गया' कहने की परिपाटी चल पड़ी है—वैसे ही शुद्ध सल्लेखना के अभाव में भी साधारण रूप से कहा जाने लगा है कि अमुक का सल्लेखना पूर्वक मरण हो गया है। परन्तु हमारी श्रद्धा में चारित्र चक्रवर्ती महाराज की सल्लेखना आज भी अनुकरणीय है।

सल्लेखना का भाव है—'काय और कषायों का कृश करना' और यह सल्लेखना परीषह सहन करने से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। कहा गया है—'मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहः' मार्ग से पतित न होने और निर्जरा के हेतु परीषह सहन आवश्यक है और यही भाव सल्लेखना में निहित हैं। वस्तुतः सल्लेखना और परीषह सहन का पारस्परिक सम्बन्ध है हम उसे साध्य-साधन का नाम भी दे सकते हैं—सल्लेखना साध्य है और परीषह सहन उसका साधन। यही कारण है कि सल्लेखना (चाहे नियम रूप हो या यम रूप हो) ग्रहण करने के पूर्व परीषह-सहन का अभ्यस्त होना और सल्लेखना काल में निरन्तर परीषह सहन करना आवश्यक है।

नियम सल्लेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष बतलाया गया है। यह इसलिए कि शरीर की आयुस्थिति की सीमा अज्ञात होती है—सम्भवतः वह अधिक काल रह सकती हो। इस बारह वर्ष के काल में परीषह सहन द्वारा अति स्थूल शरीर को भी कृश किया जा सकता है क्योंकि सभी परीषह कष्ट सहन के अभ्यास के लिए ही हैं। वैसे साधारणतया मुनिगण को तप, त्याग एवं ध्यान में विशेष सहायक होने से सदा ही परीषह सहन करना आवश्यक है। आज अन्य गृहस्थों द्वारा निर्मित सुख-सुविधा युक्त प्रासादों में रहने का त्यागियों में जो चलन बनता जा रहा है उन स्थानों के सेवन से न तो परीषह सहन हो सकती है और न ही शास्त्रोक्त सल्लेखना ही हो सकती है। अतः मुनि व त्यागी को इनका लोभ संवरण करना चाहिए। अस्तु, हमारे हर्ष का पारावार नहीं रहा जब हमने सुना कि हमारे श्रद्धास्पद 'हिमालय के दिगम्बर मुनि' ने दिनांक 16 जून 1999 को नियम सल्लेखना ग्रहण की है। हमारी भावना है कि सल्लेखना-सविधि उन चारित्र चक्रवर्ती के तुल्य ही सम्पन्न हो

जो 17 अगस्त 1955 बुधवार को यम-सल्लेखना लेते ही एकान्त पहाड़ पर चले गए, वहां सल्लेखना योग्य एकान्त स्थान होता है। हमारे हिमालय के दिगम्बर मुनि भी ऐसी ही घोषणा कर चुके हैं कि वे अन्त समय में किसी तीर्थ की ओर ही विहार करेंगे।

सल्लेखना में काय को कृश करने के साथ ही कषाय कृश करने की भी प्रमुखता है। वैसे तो दिगम्बर मुनि कषायवान् नहीं होते कदाचित् प्रसंगवशात् कभी कषाय हो भी जाय तो वह जलरेखावत् संज्वलन कषाय हो सकती है। सल्लेखना में तो ऐसी कषाय को भी जीतना होता है। हमारे हिमालय के दिगम्बर मुनि जी ने स्पष्ट विज्ञप्ति द्वारा कह दिया है–

मैं समस्त श्रावक-समुदाय एवं भक्तजनों को यह सानुराग-निर्देश देना चाहता हूँ कि मेरी उपस्थिति में या उसके बाद मेरी किसी भी प्रकार की तदाकार प्रतिमा (स्टेच्यू आदि) चरण-चिन्ह आदि न बनाये जायें। न ही मेरे नाम से किसी संस्था, भवन आदि का नामकरण किया जावे। इन कार्यों के लिए हमारे प्रातः स्मरणीय परमपूज्य आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द, धरसेन, उमास्वामी, पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर आदि मूलसंघ के आचार्यों के नाम ही रखे जावें या फिर तीर्थकरों एवं भगवन्तों के नाम पर इनके नामकरण हों। मेरी इस भावना का सभी भक्तजन एवं धर्मानुरागी जन आदर के साथ पालन करें–ऐसा अभिप्राय है। इससे समझना चाहिए कि उनके मोह का ह्रास चरमसीमा को स्पर्श करने जा रहा है–वे साधारण लोगों से भी क्षमायाचना कर चुके हैं जो कषाय प्रबलता वाले जीवों में सर्वथा दुर्लभ है। फलतः हम समझे हैं कि अब 'हिमालय के दि० मुनि' का पुनः दिल्ली पदार्पण हुआ है हमारे चारित्र चक्रवर्ती भी दिल्ली आये थे–वे इसी भाव में थे। उक्त प्रसंगों से दोनों में कितना साम्य है यह सोचने का विषय नहीं।

हमारी भावना ऐसी बनी है कि जैसे 'संजद' शब्द जो लम्बे विवादों के बाद भी चारित्र चक्रवर्ती को मान्य नहीं हुआ–वह सल्लेखना के अन्तिम चरण में उन्हें सहसा मान्य हो गया। वे पूर्वाचार्यों का विरोध करने से सहमत नहीं हुए और उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी कि "जिनदास, धवला जीवस्थान का 93वाँ सूत्र भावस्त्री का वर्णन करने वाला है। अतः वहाँ पर संजद पद अवश्य

होना चाहिए, ऐसा निश्चय से लगता है।"

पण संजद शब्द सूत्रांत नाहीं व हें सूत्र द्रव्यस्त्रीचें वर्णन करणारें आहे अ-
शी खात्री महाराजांची झाली होती.
यानंतर महाराज कुंथलगिरि क्षेत्रावर गेले व तेथें त्यांनीं सल्लेखना धारण केली.
त्यावेळीं त्यांची सेवाशुश्रूषा करण्याच्या हेतूनें परम आचार्यभक्त ब्र. धर्मनिष्ठ
श्री गुलाबचन्द्र भरवारामजी गांधी हे तेथें सकुटुम्ब गेले होते.
आचार्य महाराजांचे अन्तिम दर्शन घेण्यासाठीं मीही ब्र. श्री जीवराज गौ-
तमचंद दोशी यांच्याबरोबर गेलो होतो.
मला आचार्य महाराजांचें अन्तिम दर्शन घेण्याची तीव्र उत्कण्ठा होती पण
मला त्यांच्याजवळ जाण्यास लोक प्रतिबन्ध करीत होते.
श्री ब्र. गुलाबचंदजींना महाराजांचें दर्शन घेण्याची माझी तीव्र उत्कंठा
सांगितली. तेव्हां त्यांनीं मला एके दिवशीं आचार्य महाराजांचें दर्शन
घेण्यासाठीं नेलें. महाराजांना दिसत नसल्यामुळें आवाज ऐकून कोण
आहे असा प्रश्न केला. मी विनयानें वंदन करून माझें नांव सांगित-
लें. त्यावेळीं आचार्य महाराज "अरे जिनदास, षट्खंडागमातील ९३ वें
सूत्र भावस्त्रीचें वर्णन करणारें आहे व तेथें 'संजद' शब्द अवश्य
पाहिजे असें वाटतें. हें परमपूज्य महाराजांचें वचन ऐकून महारा-
जांच्या सत्यान्वेषी व निराग्रह वृत्तीबद्दल मला व श्री ब्र. गुलाब-
चंदजींना फार आनन्द वाटला.
श्रीमान ब्र. गुलाबचन्द यांनीं अशी सूचना केली आहे की प्रकाशि-
त षट्खण्डागमाच्या सूत्रांत संजद शब्द अवश्य जोडावा.
जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले. गुलाबचंद हिराचंद गांधी
ता. २२/७/७०

परमपूज्य महाराजश्री का वचन सुनकर उनकी सत्यान्वेषी प्रकृति का पुनः विश्वास हुआ। इससे हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। क्योंकि इससे 'संजद' पद संबंधी विवाद भी सदा के लिए हल हो गया है।

हमारी भावना बनी है कि आचार्य शान्तिसागर जी को परम्परा का अनुसरण करते हुए हमारे 'हिमालय के दिगम्बर मुनि' भी सल्लेखना के अन्तिम चरण में यह स्पष्ट घोषणा करेंगे कि दिगम्बर आगम, जो दृष्टिवाद से प्रसूत हैं—उनकी भाषा सर्वथा 'अर्धमागधी' ही है—जैसा कि परम्परित पूर्वाचार्यों ने दर्शनपाहुड़टीका, तिलोयपण्णत्ति, धवला, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र आदि में उल्लेख किया है। ऐसे में ही जिनवाणी की प्रामाणिकता सन्निहित है और भावी परम्परा को जिनागम में दृढ़ श्रद्धानी बनाने में समर्थ है। इत्यलम् अति विस्तरेण।

—सम्पादक

समाज में श्रावकाचार संहिता की आवश्यकता

–डॉ. जयकुमार जैन

जैन संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से अन्यतम है। यह पुरुषार्थमूलक संस्कृति है। यद्यपि यह भाग्य को स्वीकार करती है, तथापि इसकी अवधारणा है कि प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को हीनफल किया जा सकता है या अन्य रूप परिणमित किया जा सकता है। इसी कारण जैन संस्कृति में आचार को आवश्यक माना गया है। 'णाणस्स सारं आयारो' तथा 'चारित्तं खलु धम्मो' में यही भावना प्रतिफलित दृष्टिगोचर होती है। सम्यग्दृष्टि आचारमार्ग का परिपालन करने के लिए श्रमणत्व को अंगीकार करता है और यदि शक्ति में हीनता देखता है तो श्रावक के आचार को धारण करता है। अतः श्रमण एवं श्रावक की पृथक्-पृथक् आचार संहिताओं का विवचेन जैन ग्रन्थों में मिलता है।

मानव जीवन में श्रावक की आचारसंहिता का सर्वातिशायी महत्त्व है। आचारसंहिता के अभाव में श्रावक ने अपनी पहचान खो दी है तथा वह धर्म से विमुख होता जा रहा है। फलतः समाज पतनोन्मुखी हो रहा है। मनुष्य इस कारण श्रेष्ठ नहीं माना गया है कि उसमें बुद्धिचातुर्य अधिक है, अपितु उसकी श्रेष्ठता आचारशुद्धि एवं विचारशुद्धि पर आश्रित मानी गई है। श्रावक के आचार में मोक्षपुरुषार्थ की भूमिका है उसकी पारमार्थिक यात्रा धर्म पुरुषार्थ से प्रारंभ होती है तथा मोक्ष पुरुषार्थ पर विराम लेती है। अर्थ एवं काम पुरुषार्थ तो श्रावक के पड़ाव हैं। श्रावक की आचारसंहिता की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा गया है कि श्रावक धर्म का पालन करने से कोई तीसरे भव में सिद्ध पद प्राप्त करता है तो कोई क्रमशः देव और मनुष्यों के सुख भोगकर पाँचवे, सातवें या आठवें भव में सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है।[1] श्रावक की आचारसंहिता के अन्तर्गत जैन ग्रन्थों में अष्टमूल

गुणों के परिपालन एवं सप्तव्यसन के त्याग को अनिवार्य माना गया है। जलगालन, रात्रि भोजन त्याग, प्रतिदिन देव दर्शन श्रावक के लक्षण हैं तथा देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान उसकी आवश्यक क्रियाएं हैं। श्रावक मारणान्तिकी सल्लेखना का भी आराधक होता है।

आज जब जैन श्रावकों में भी महापाप के बीज रूप, विवेक के विनाशक तथा सदाचरण के भंजक जुआ, मांस, मदिरा, वेश्यारमण, चोरी, शिकार का नया रूप, भ्रूणहत्या, परस्त्रीरमण ये सात व्यसन बढ़ते जा रहे हों, हिंसा आदि पांच पापों को आजीविका के साधन के रूप में स्वीकार किया जाने लगा हो, भक्ष्याभक्ष्य का विचार तिरोहित हो गया हो, पर्यावरण प्रदूषण के साथ-साथ मानसिक प्रदूषण में भी वह सहयोगी बन रहा हो, अन्याय से अर्जित धन का कुछ अंश तथाकथित धार्मिक कार्यों में व्यय करके अपने को ऊंचा श्रावक समझने की भूल कर रहा हो, **'जिओ और जीने दो'** की पावन भावना उसके हृदय से निकली जा रही हो, जीवन तनावग्रस्त हो रहा हो, परिग्रहलोलुपता में सीमातीत वृद्धि हो रही हो, उनके हीन आचरणों से जैन धर्म की गर्हा हो रही हो, अपने आराध्य पूज्य गुरुओं के नाम लेकर समाज में वैमनस्य बढ़ा रहे हों, साधु-सन्तों का नाम लेकर समाज में धर्म की ठेकेदारी करके अपना उल्लू सीधा कर रहे हों, अपने शिथिलाचार को ढकने के लिए साधु के बढ़ रहे शिथिलाचार को आधारा बनाया जा रहा हो, प्रथमानुयोग को किस्सा कहानियां कहकर विकथाओं में रति बढ़ रही हो तब समाज में श्रावक की आचारसंहिता निम्नलिखित हेतुओं से अत्यन्त आवश्यक हो गई है।

व्यसनमुक्तजीवन : जैन धर्म में श्रावक को द्यूत, मांस, सुरा, वेश्या, चोरी, आखेट एवं परांगना इन महापापकारक सात व्यसनों के त्याग का कथन किया गया है—

'द्यूत-मांस-सुरा-वेश्या-चौर्याखेट-परांगना।
महापापानि सप्तानि व्यसनानि त्यजेद्बुधः।।'

---

1. सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए।
भुंजिवि सुरमणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं।। —वसुनन्दि श्रावकाचार, 539
2. 'मरणान्तिकी सल्लेखना जोषिता' —तत्त्वार्थसूत्र, 7/22

पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध से दिशाहीन युवक व्यसनों के मोहक जाल में निरन्तर फंसता जा रहा है। जैन समाज भी इससे अछूता नहीं है। यदि हमें समाज का अस्तित्व चिरस्थायी रखना है तो व्यसनमुक्त समाज का निर्माण न केवल आवश्यक अपितु अनिवार्य मानना होगा। मांसाहार की बढ़ती प्रवृत्ति इन सभी व्यसनों का कारण है। एक मांसाहारी भिक्षु के चित्रण में यह स्थिति स्पष्ट रूप से झलकती है। किसी व्यक्ति के भिक्षु से किये गये प्रश्न और भिक्षु के उत्तरों को संस्कृत के एक श्लोक में दर्शाते हुए मांस की अत्यन्त गर्हा की गई है। श्लोक इस प्रकार है–

भिक्षो! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं बिना,
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वारांगनाभिः सह।
तासामर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा,
द्यूतचौर्य परिग्रहोऽपि भवतः नष्टस्यकान्या गतिः।।

व्यक्ति पूछता है – हे भिक्षु! तुम मांस का सेवन करते हो
भिक्षु कहता है – मदिरा के बिना उस मांस से क्या प्रयोजन है?
व्यक्ति फिर पूछता है – तो तुम्हें मदिरा भी प्रिय लगती है?
भिक्षु पूछता है – हां, वेश्याओं के साथ पी लेता हूं।
व्यक्ति फिर पूछता है – उनकी धन में रुचि होती है। तुम्हारे पास धन कहां से आता है?
भिक्षु कहता है – जुआ अथवा चोरी से।
व्यक्ति फिर पूछता है – तो तुम्हें जुआ और चोरी की लत भी है?
भिक्षु कहता है – (मांसभक्षण से) नष्ट हो चुके व्यक्ति की और क्या दशा हो सकती है? अर्थात् यही दशा हो सकती है।

इस प्रकार मांसाहार को मदिरासेवन, वेश्यारमण/परस्त्रीसेवन, जुआ एवं चोरी का कारण तो इस श्लोक में दर्शाया ही गया है, यह आखेट व्यसन का भी प्रेरक है। यद्यपि आज शिकार जैसा व्यसन बहुप्रचलित नहीं है, तथापि आज के कत्लखाने इसी व्यसन के आधुनिक तरीके हैं। यही नहीं, अब तो बालिकाओं को जन्म न देने के लिए तथा वासना की बढ़ती प्रवृत्ति को अनियन्त्रित चलाने के लिए जैन गृहस्थों में भी भ्रूणहत्या जैसे महापाप को मान्यता मिलती दिखाई

दे रही है, यह व्यसन को व्यसनरूप न मानने का दुःखद पहलू है।

उक्त सप्त व्यसनों के त्याग से ही व्यसनमुक्त सुखी समाज की संभावना की जा सकती है। अतः श्रावक की आचार-संहिता के प्राथमिक चरण के रूप में समाज में सप्तकव्यसनत्याग की महती आवश्यकता है।

मूलगुण-स्वस्थ शरीर एवं निर्मल मन के आधार – श्रावक की स्थिति में मूल या नींव रूप होने से तथा मोक्ष के मूल कारण होने से श्रावक के प्रमुख गुणों की मूलगुण अन्वर्थ संज्ञा है। इसी प्रकार साधु के प्रमुख गुणों को भी मूलगुण कहा जाता है। कहा भी गया है–

'मूलं विना वृक्ष इवालयो च भवेन्न लोके च तयैव साधुः।
न जायते मूलगुणान् विनास्माद् एते विमुक्तेरपि मूलमेव।।'[3]

संख्या की दृष्टि से मूलगुण आठ माने गये हैं किन्तु इनके नामों के विषय में दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् हैं। कुछ आचार्यो की दृष्टि में मद्य-मांस-मधुत्याग तथा 6 उदुम्बरफल त्याग आठ मूलगुण हैं तो कुछ की दृष्टि में मद्य-मांस-मधु-त्याग तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह के एकदेश त्याग रूप पांच अणुव्रत ये आठ मूलगुण हैं। आचार्य जिनसेन ने मधुत्याग के स्थान पर द्यूतत्याग का समावेश किया है। उनकी दृष्टि में मद्यत्याग, मांसत्याग, द्यूतत्याग और पांच अणुव्रतों का पालन आठ मूलगुण हैं। इसी का कथन पण्डितप्रवर आशाधरजी ने इस प्रकार किया है –

'तत्रादौ श्रद्दधेज्जैनीमानां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत् पञ्चक्षीरफलानि च।।
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थाने इहेव वा।।'[4]

पं० लालाराम जी द्वारा सम्पादित सागारचर्मामृत में फुटनोट में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग,

---

3. आराधना – गणिनी आर्यिका, ज्ञानमती, श्लोक88
4. सागारधर्मामृत, 2/2-3

रात्रिभोजनत्याग, पञ्चक्षीरफलत्याग, पञ्चपमेष्ठी स्तुति, जीवदया और जलगालन की आठ मूलगुण माना गया है। यतः मांसाहारियों में दया, मद्यपायियों में सत्यता तथा मधु एवं उदुम्बरफल सेवियों में आनृशंसता (भद्रता) नहीं होती है, अतः इनके त्यागरूप मूलगुणों को श्रावक की आचार संहिता में आवश्यक माना गया है।

लोक में भी कहावत है 'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीबे पानी, वैसी बोले बानी।' इसी कारण श्रावक की आचारसंहिता में भक्ष्याभक्ष्य पर विचार किया गया है। मद्यपान से स्नायुदौर्बल्य, मस्तिष्क का कम्पन, कामाग्नि का उद्दीपन तथा कलह का वर्धन होता है। मांसाहार से व्यक्ति अस्वस्थ एवं रोगी हो जाता है। मधु को प्राप्त करने की प्रक्रिया अत्यन्त हिंसक है, अतः इससे भद्रपरिणामों का अभाव हो जाता है। पांच उदुम्बर फलों में बड़, पीपल, गूलक, मधूक एवं मंजीर का समावेश है। इन फलों में असंख्यात त्रस जीवराशि विद्यमान रहती है, अतः ये पर्यायान्तर से मांसपिण्ड ही कहे ये हैं। इनके सेवन से भी भद्रता नष्ट होती है। अतः कहा भी गया है।—

'मांसाशिषु दया नास्ति, न सत्यं मद्यपायिषु।
आनृशस्यं न मर्त्येषु, मधूदुम्बरसेविषु।।[5]

उपर्युक्त विवेच्न से सुस्पष्ट है कि शरीर की स्वस्थता एवं मन की निर्मलता के लिए श्रावक की आचार संहिता में निर्दिष्ट मूलगुणों का पालन आवश्यक है। इसी में समाज की स्वस्थता है।

पांच अणुव्रत : आज की समाज की अनिवार्यता — आज हिंसा का ताण्डव सर्वतोमुखी बनता जा रहा है। मांस, मछली एवं अण्डों की खुलेआम बिक्री ने मानव को ऐसा निर्मम बना दिया है कि वह आदमी को गाजर-मूली की तरह काट रहा है। नित्य नये बूचड़खाने खुलते जा रहे हैं। कहा जाता है कि मानव ने ऐसे विध्वंसक शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर लिया है कि पृथ्वी का 21 बार विनाश किया जा सकता है। हिंसा का ही अगला कदम झूठ है। झूठ अब हमारी संस्कृति में समा गया है। झूठ बोलना अब बुरा नहीं, अपितु लोग बोलने की

---

5. द्रष्टव्य — समीचीन धर्मशास्त्र, प्रस्तावना पृ० 59 (जु० कि० मुख्तार)

फैशन समझने लगे हैं। झूठे आश्वासन, कथनी एवं करनी में अन्तर तथा अपने बयान को अन्यरूप बदलना अब सामान्य-सी बात लगती है। चोरी ने नया रूप धारण कर लिया है। कर बचाना, मिलावट करना, कम-बढ़, माप-तौल करना आदि अब व्यापारी अपनी कुशलता समझते हैं। कामपिपासा ने एड्स जेसी भयंकर बीमारी का रूप धारण कर लिया है। बलात्कार के समाचार पढ़कर अब कान पर जूं नहीं रेंगती है। वासना को अब व्यवसाय मानने का आन्दोलन करने की तैयारी है। परिग्रही को अब समाज में धार्मिक कहा जा रहा है। उपभोक्तावाद की प्रवृत्ति ने परिग्रह पिशाच को उपादेय मान लिया है। ऐसी स्थिति में यदि समाज का भला हो सकता है तो मात्र अणुव्रतों के पालन से ही। अहिंसाणुव्रत हमारी संकल्पी हिंसा को रोक सकता है तो सत्याणुव्रत झूठ एवं आडम्बर के जीवन से हमें बचा सकता है। अचौर्याणुव्रत हमें चोरी करना, चुराई गई वस्तु को खरीदना, राज्य के नियमों का उल्लंघन करना, न्यूनाधिक माप-तौल करना तथा मिलावट करने जैसे असामाजिक दृष्प्रवृत्तियों से निजात दिला सकता है।[6] ब्रह्मचर्याणुव्रत की धारणा से आन्तरिक शक्ति का विकास समाज को बचा सकते हैं। परिग्रहपरिमाणाणुव्रत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को विकसित करके आवश्यकता से अधिक घनसंग्रह की प्रवृत्ति को रोककर समतामूलक समाज का निर्माण कर सकता है। भोगोपभोग की वस्तुओं के परिमाण से संसार गरीबी एवं भुखमरी से बच जायेगा तथा जरूरत से अधिक संग्रह करने वाले रोग भी दिन-रात निष्प्रयोजनभूत धनार्जन के संताप से अपने आप को बचा सकेंगे।

न्यायोपात्त धन से सहज जीवनयापन – गृहीश्रावक को धनार्जन की रोक नहीं है। यहाँ तक कि जो ब्रह्मचारी आज समाज को त्यागकर अपने को–साधु समझकर समाज पर आश्रित बनते जा रहे हैं, उन्हें भी आवश्यकतानुसार सीमित धनार्जन की छूट है। जीवनयापन के लिए गृहस्थ को धन की आवश्यकता होती ही है। किन्तु हमें अपने विलासितामय जीवन के लिए अन्धाधुन्ध धनार्जन/अन्यायपूर्वक धनार्जन की छूट नहीं दी गई है। यदि पुण्योदय से हमें

---

6. द्रष्टव्य अचौर्याणुव्रत के अतिचार
'स्तेन प्रयोग तदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरुपकव्यवहाराः पञ्च।' तत्त्वार्थसूत्र –7-27

आवश्यकता से अधिक सम्पत्तियाँ प्राप्त हों तो समाज एवं देश के हित में उनके उपयोग करने का विधान भी है। अधिक धन का होना बुरा माना गया है, परन्तु यदि वही धन परोपकार में लगा हो तो उसे ही अच्छा कहा है—'बहुधन बुरा हूँ भला कहिये लीन पर उवगार सों।'[7] श्रावक की आचारसंहिता में स्वीकृत न्यायोचित धनार्जन से परिपालन से समाज की अनेक बुराईयाँ समाप्त हो सकती हैं तथा व्यक्ति प्राकृतिक रूप से सहज जीवन-यापन कर सकता है। जैन धर्म का मूल सिद्धान्त 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (जिओ और जीने दो) के रूप में बहुप्रचारित है। यदि हम न्योयापात्त धनार्जन की बात को ही अपने जीवन में उतार लें तो इस भावना की रक्षा कर सकते हैं।

श्रावकाचार और पर्यावरण संरक्षण – वैज्ञानिकों की अवधारणा है कि सूर्य और पृथ्वी के मध्य आकाश में विद्यमान ओजोन परत टूट रही है। पृथ्वी पर आक्सीजन का स्रोत यही परत है। इसका टूटना पृथ्वी पर जीवधारियों के जीवन को खतरे की घण्टी है। क्योंकि सूर्य की पराबैंगनी किरणें पृथ्वी पर सीध पड़ेगी तो त्वचा का कैंसर तथा आँखों के अनेक रोगों की संभावना बढ़ जावेगी। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पर्यावरण के मूल आधार हैं। औद्योगीकरण, यातायात के यान्त्रिक साधन, लाउडस्वीकरों की तेज ध्वनि, दूषित हवा, दूषित पानी वनों की कटाई, भूमि की अन्धाधुन्ध खुदाई, प्राकृतिक साधनों का अनियन्त्रित उपयोग, रासायनिक कचरा, मांसाहार आदि के कारण आज पूरा पर्यावरण प्रदूषित हो चुका है और पर्यावरण प्रदूषण ने एक भयानक समस्या का रूप धारण कर लिया है। यदि श्रावकाचार के सिद्धान्तों में केवल अहिंसाणुव्रत को ही अपना लिया जावे तो हम पर्यावरण प्रदूषण की विकराल समस्या का निदान पर सकते हैं। निरन्तर खुदाई के कारण मिट्टी प्रदूषित हो गई है। खनन से उत्पन्न रासायनिक गैसें तथा धूलि कणों ने फेफड़ों एवं गले के रोगों को जन्म दिया है। श्रावकाचार में निष्प्रयोजन पृथ्वी के खनन को त्याज्य कहा गया है। इसके स्वीकार करने से हम मृदा प्रदूषण से बच सकते हैं। इसी प्रकार जल में रासायनिक पदार्थ, मल आदि न डालकर हम श्रावकाचार

---

7. दशलक्षणपूजा, द्यानतराय (आकिंचन्य धर्म)।

का पालन तो करेंगे ही, जल को प्रदूषित होने से भी बचा लेंगे। अमर्यादित खनिज कोयला, मिट्टी का तेल, डीज़ल, पेट्रोल आदि के प्रयोग से सम्पूर्ण वायुमण्डल प्रदूषित हो रहा है तथा बस, ट्रेन, मिल, लाउडस्वीकर आदि की तेज ध्वनि से आकाश में ध्वनिप्रदूषण बढ़ता जा रहा है। रासायनिक एवं जैविक खादों के प्रयोग ने वनस्पतियों को भी प्रदूषण से मुक्त नहीं रहने दिया है। इन सबसे बचने का उपाय अहिंसाणुव्रत का परिपालन करना और अनर्थदण्डों का परित्याग है। हमें चाहिए कि हम आवश्यकताएं कम करें तथा आवश्यकता से अधिक अग्नि न जलावें। धूम्रपान की प्रवृत्ति को रोकें। ध्वनि एवं वाणी की निष्प्रयोजन प्रवृत्ति न होने दें तथा रासायनिक खादों की अपेक्षा प्राकृतिक खादों का प्रयोग करें। वनों को व्यर्थ में न काटें। फर्नीचर आदि की आवश्यकतायें सीमित करें। वन हमारे लिए आक्सीजन का भण्डार हैं। अतः इनका संरक्षण करें।

श्रावकाचार परिपालन और तनावमुक्ति – आज आबालवृद्ध सभी का जीवन तनावग्रस्त है। बच्चों में हो, बूढ़ों में या फिर युवक-युवतियों में सर्वत्र तनाव का वातावरण है। कोई तन से दुःखी है तो कोई धन से या फिर मन से। किसी का असाध्य बीमारी है तो किसी को चिन्ता में नींद नहीं आती है तो कोई 'और चाहिए, और चाहिए' पास 10 पीढ़ी तक की उपभोग सामग्री है तो वह ग्यारहवीं पीढ़ी की चिन्ता से तनावग्रस्त है। यदि हम श्रावकाचार में वर्णित आचारों का पालन करें विशेषतया परिग्रहपरिमाण का नियम ले लें तो हमें तानव से मुक्ति मिल सकती है। तनाव से मुक्ति के लिए हमें यही विचार निरन्तर करना होगा कि –

'इकट्ठे कर लो चाहे जितने हीरे मोती।
मगर याद रखना कफन में जेब नहीं होती।।'

इसे स्मरण करते हुए श्रावकाचार का पालन करें और तनाव को दूर भगायें।

मरण की सार्थकता सल्लेखना में – जैन परम्परा में मरण की सार्थकता और वीतरागता की कसौटी सल्लेखना मानी गई है। अच्छी तरह से काय और कषायों के कृश करने का नाम सल्लेखना है। मुनि की तरह श्रावक भी

सल्लेखना का धारक होता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् शरीर धर्मसाधना का प्रथम साधन है। अतः जब तक शरीर धर्मसाधना के अनुकूल रहे तब तक उसके माध्यम से धर्मसाधना करनी चाहिए। किन्तु यदि शरीर धर्म-साधना के प्रतिकूल हो जावे या फिर शरीरनाश का अपरिहार्य कारण उपस्थित हो जावे तो सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा या रोग के उपस्थित होने पर तथा उनका प्रतीकार संभव न होने पर धर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना धारण करना चाहिए। उनके अनुसार सल्लेखना का आश्रय लेना ही जीवन भर की तपस्या का फल है।[8] यह साधन की साधना का निकष है। सल्लेखना से अन्त समय में भी समता धारणा करने की भावना बलवती होती है। समाज सल्लेखनाधारी द्वारा हँसते-हँसते मृत्यु का वरण देखकर मृत्यु से भय त्याग देता है, जिससे उसमें निर्भयता आती है तथा अपने पड़ोसियों की रक्षा में सच्चे वीर का पराक्रम दिखाने की भावना उत्पन्न होती है। क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी के शब्दों में —"सल्लेखना वस्तुतः शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है। एक सच्चे वीर का महान् पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर जवाब दे, वह स्वयं समतापूर्वक उसे जवाब दे देता है और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उसी में विलीन हो जाता है।[9] पं० सूरजमल जी ने भी समाधिमरण में कहा है —

'मृत्युराज उपकारी जिय को, तन से तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृह में, पर्‌यो-पर्‌यो दिललावै।।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यसनमुक्ति, स्वस्थ शरीर, मन की निर्मलता, संसार की भुखमरी एवं गरीबी से छुटकारा न्योयापात्त धन से सहज जीवनयापन, पर्यावरण संरक्षण तथा तनावमुक्ति के लिए तो समाज को श्रावकाचार के परिपालन की आवश्यकता है ही, अपना मरण सुधारने के लिए इसकी विशेष आवश्यकता है।

रीडर—संस्कृत विभाग
एस. डी. कालेज, मुजफ्फरनगर

---

8. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 122-123
9. मुक्ति पथ के बीज

शिथिलाचार : एक अनुचिन्तन
सर्वाधिक चिन्तनीय है शील-शैथिल्य
स्थानकवासी जैन महासंघ का एक अभूतपूर्व निर्णय

–नरेन्द्र प्रकाश जैन

जैन साधु निरन्तर संवर एवं निर्जरा के मार्ग पर चलने की कोशिश करते हैं। आस्रव एवं बंध के कारणों से यथाशक्ति और यथासंभव वे स्वयं को बचाते हैं। उनके जीवन में यदि स्वकृत या परकृत आपत्तियाँ भी आती हैं तो वे समता भाव से सहन करते हैं। आगम की भाषा में इस सहन-शक्ति को परीषहजय कहा गया है। विविध प्रकार के परीषहों को शान्त चित्त एवं स्वेच्छा से सहन करते रहने के अभ्यास से साधु में मोक्ष मार्ग से च्युत न होने अथवा आपत्तियों में भी अविचलित बने रहने की क्षमता का विकास होता है। इसी क्षमता के बल पर हमारे संतों ने सर्प, व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक जीवों के उपसर्गो अथवा भूख-प्यास, निन्दा-अपयश, वध-बन्धन आदि की बाधाओं को हँसते-हँसते सहन किया है।

परीषह बाईस होते हैं। उनमें से कुछ परीषहों से बचने के लिये शोर्टकट रास्ते भी तलाशे जाने लगे हैं, जैसे—उष्ण और शीत परीषहों से बचने के लिये अब कहीं-कहीं कूलर और हीटर का सहारा लेने में कुछ साधुओं को कोई हिचक नहीं होती। दंशमशक परीषह से, चाहे आंशिक रूप में ही सही, छुटकारा पाने के लिये कछुआ छाप अगरबत्ती अथवा गुडनाइट या मार्टिन सरीखे साधनों को अपनाये जाते हुये भी हमने कहीं-कहीं देखा है। ऊँची-नीची या कठोर किन्तु निर्दोष भूमिजन्य बाधा को शान्ति से सहन करना शैयापरीषहजय कहलाता है। सुना है (देखा नहीं है) कि एक संघ में इसका भी विकल्प ढूँढ लिया गया

है। इस संघ के साधु डनलप के गद्दों पर टाट लपेटकर उन्हें सोते समय काम में लाते हैं। अरति, याचना, अलाभ, सत्कार-पुरस्कार आदि परीषहों का सामना करने के अवसर भी पहले से काफी कम होते जा रहे हैं। अधिक से अधिक सुविधायें जुटाने की प्रवृत्ति गृहस्थों में तो हमेशा से ही रही है, अब हमारे साधुवृन्द भी सुविधाभोगी होते जा रहे हैं। सुविधाओं में रहने और जीने की आदत से ही शिथिलाचार का जन्म होता है।

जिस प्रकार किसी जैन के घर का कोई बच्चा प्रतिदिन अनछना पानी पीता हो अथवा कभी-कभार रात्रि भोजन कर लेता हो तो एक बार को उस ओर से आँख मूंदी जा सकती है किन्तु उसके द्वारा मद्यपान अथवा अण्डे-आमलेट या फास्टफूड का सेवन बर्दाश्त करने योग्य नहीं है; उसी प्रकार अन्य सभी परीषहों को सहन करने से बचाव के साधु के प्रयासों को एक बार अनदेखा किया जा सकता है किन्तु नग्नपरीषहजय एवं स्त्री परीषहजय में शिथिलता असह्य है। इन दोनों परीषहों का जीतना तो साधु के लिये अनिवार्य है। इसमें कोई छूट उन्हें नहीं दी जा सकती। अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना में ही साधुता का गौरव है। यदि साधु-संघों में भी स्त्रीजनित वासना की विष-बेल लहलहाने लगे तथा गर्भपात जैसी घटनाएं जन-जन की चर्चा का विषय बन जाएं तो इसे पतन की पराकाष्ठा ही माना जायेगा।

पूज्य आचार्यों का यह दायित्व है कि वे अपने संघस्थ या संघबाह्य (स्वतन्त्र विहार करने वाले) शिष्यों पर अनुशासन रखें। शीलजनित दोष यदि किसी शिष्य से बन जाये तो उसे दण्डित करें और उसे उचित किन्तु कठोर प्रायश्चित को स्वीकार करने के लिये बाध्य करें। दुःख है कि आज ऐसा नहीं हो रहा है। शील-दोष को भी उपगूहन अंग के नाम पर दृष्टि से ओझल और उपेक्षित करने की कोशिश हो रही है। अतिचार का उपगूहन तो समझ में आता है किन्तु अनाचार या दुराचार की उपेक्षा न केवल समझ से परे है, बल्कि निहायत अनुचित भी है। दुराचार की उपेक्षा से दुराचार बढ़ता रहता है।

शीलभंग के दोषियों को दण्डित न किया जाना अपराध की श्रेणी में गणनीय है। यदि हमारे आचार्यगण दण्ड नहीं देते या दे सकते हैं तो समाज को इस पर कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त करनी चाहिए। पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्दजी

महाराज ने भी अपने एक महत्वपूर्ण आलेख में स्पष्ट निर्देश दिया है—"यदि त्यागीवर्ग शास्त्र की मर्यादा या लोकमर्यादा के विरुद्ध आचरण करता है तो उसकी समीक्षा करने का गृहस्थों और विद्वानों को पूर्ण अधिकार है, क्योंकि इसका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है।" एक मासिक पत्रिका 'महावीर मिशन' के जून 99 के अंक में प्रकाशित अग्रलेख की ये पंक्तियां भी दृष्टव्य हैं—"शरीर में यदि कोई रोग हो और उसका समय पर इलाज न किया जाए तो वह असाध्य हो जाता है। शीलभंग जैसे रोग का इलाज न किया गया तो वह भी एक दिन भयंकर रूप ले लेगा।"

शील-दोष एवं आगमग्रन्थ

मूलाचार एवं भगवती आराधना में साधुओं की आचार-संहिता का वर्णन है। साधु-संस्था में शीलगुण की सुरक्षा पर इन दोनों ही ग्रन्थों में बहुत जोर दिया गया है। किसी आर्यिका से एकान्त में वार्तालाप का निषेध, गणिनी की उपस्थिति में ही किसी आर्यिका को प्रायश्चित्त देने का विधान, जहां आर्यिकाएं निवास करती हों, वहां खड़े रहने या बैठने की मनाही आदि नियमों के परिपालन का निद्रेश शील की सुरक्षा के लिये ही हैं। एक आचार्य लिखते हैं कि जीवित स्त्री की तो बात ही छोड़िये, मिट्टी, पत्थर, लकड़ी या चित्रादि में निर्मित स्त्री का शरीर देखकर भी मनुष्य मोहित हो जाता है। इसीलिये मूलाचार में किसी तरुण स्त्री के साथ वार्तालाप करने आज्ञा-लोप, अनवस्था, आत्मनाश, मिथ्यात्वाराधन और संयम-विराधना जैसे पांच दोषों की उत्पत्ति की बात कही गयी है। आर्यिकाओं द्वारा आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी की वन्दना क्रमशः पांच, छह और सात हाथ की दूरी से करने के नियम की पीछे भी अपने-अपने शील की संभाल करने या रखने का एक विनम्र प्रयास ही है।

भगवती आराधना में लिखा है—**'आर्यिकासंगतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः'** अर्थात् आर्यिकाओं की संगति में लोकमान्य वृद्ध साधु की भी दुर्निवार निन्दा होती है, साधारण साधु की तो बात ही क्या है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि काममलिन मुनि की आत्मा तो मलिन होती ही है, उसके दीक्षा एवं तपोजन्य सम्पूर्ण पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं। जो शील से रहित है, उसका मनुष्य

भव निरर्थक है। 'शील पाहुड़' की 30वीं गाथा में कहा गया है "विषयासक्त साधु ने न भाव-शुद्धि होती है ओर न सम्यक्त्व की। विषयासक्त दश पूर्व का पाठी रुद्र नामक साधु भी नरक गया था।" 'लिंग पाहुड़' में तो कामवासना में लिप्त साधु को तिर्यंचयोनि अर्थात् पशु-तुल्य कहा गया है (देखें—गाथा सं०13)। ठीक ही है—'ब्रह्मचर्यस्य भंगेन व्रतं सर्व निरर्थकम्'। नीतिशास्त्र भी कहता है —

'एकतः सकलं पापं, शीलभंगोत्थमेकतः
तयोः स्याच्चान्तरं, नूनं मेरुसर्षपयोरिव'

अर्थात्—अन्य सारे पाप तराजू के एक पलड़े में हों और शीलभंग का पाप हो तराजू के दूसरे पलड़े में तो इन दोनों में मेरु पर्वत और सरसों के समान अन्तर होता हैं

आर्यिकाओं के लिये कहा गया है—**'जीवन्त्योऽपि मृता ज्ञेयाः शीलहीनाः नृयोषिताः'**। शीलहीन नारियां जीवित भी हों तो उन्हें मृत समझना चाहिए।

आज कुछ साधु धन, यश और स्त्री के पीछे भाग रहे हैं। कामिनी और कंचन संकट के कारण हैं, यह बात साध्वी इन्दुप्रभा, संध्या-सन्मतिसागर एवं मुनि लोकेन्द्रविजय जैसे कांडों के बाद तो अब सबकी समझ में आ जानी चाहिए थी, किन्तु दुःख है कि यह रोग कम होने की जगह बढ़ता ही जा रहा है। यह स्थिति चिन्तनीय है।

आज ऐसी लज्जास्पद घटनाओं से हर समाज हतप्रभ और पीड़ित है। अभी हाल में स्थानकवासी साधु-संघ में ऐसी ही एक घटना ने समाज को उद्वेलित कर दिया है। इस घटना के संदर्भ में एक विद्वान् ने लिखा है—'ऐसा नहीं है कि ऐसी घटनाओं के पीछे कोई सत्यता नहीं होती। कहते हैं कि धुआँ वहीं होता है, जहां थोड़ी-बहुत आग होती है।' किसी शायर ने भी लिखा है—

"धुआं उठता नहीं यूं ही, सुलगती हैं नहीं लपटें
दबी हो एक चिनगारी, वहीं शोला भड़कता है"

आज हमारे कुछ गृहस्थ भाई या तो इन शोलों को अपने गर्मागर्म व्याख्यानों से और भड़काते हुये देखे जाते हैं अथवा श्रद्धा के अतिरेक में इन पर पानी डालते रहते हैं। दोनों ही स्थितियां ठीक नहीं हैं। प्रश्न इन्हें उघाड़ने या छिपाने का नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि समाज के सभी संत,

प्रबुद्धजन एवं कर्णधार मिलकर कुछ ऐसा सार्थक कदम उठायें, जिससे इस तरह के शर्मनाक प्रसंगों की पुनरावृत्ति पर ब्रेक लग सके।

एक अभूतपूर्व निर्णय

गत 18 जुलाई को दिल्ली स्थित अशोक विहार फेस-1, एफ ब्लाक के जैन स्थानक भवन में श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन महासंघ का एक अधिवेशन संपन्न हुआ, जिसमें दिल्ली के ही पीतमपुरा क्षेत्र में एक लम्बे समय से विराजित सुभद्रमुनि एवं रमेशमुनि को उनके अनैतिक एवं मर्यादाविरोधी आचरण तथा चतुर्थ महाव्रत के भंग के कारण मुनि-संघ से निष्कासित कर दिया गया। महासंघ ने यह भी फैसला किया है कि कोई भी श्रीसंघ न तो उनकी विनय-वदना करे और न उनके किसी कार्यक्रम में सम्मिलित हो। इन दोनों मुनिवेशियों की तलाशी लेने पर उनके पास से अनेक आपत्तिजनक फोटो, अश्लील पत्र, नकद राशि, दूरबीन इत्यादि वस्तुएं बरामद हुई थीं। साधु मर्यादा को ताक पर रखकर वे तांत्रिक अनुष्ठानों में भी लिप्त पाये गये थे।

महासंघ ने इस काण्ड में लिप्त जैन साध्वियों के विरुद्ध भी कड़ी कार्यवाही करने का निर्णय लिया है। महासती श्री मगनश्रीजी महाराज के टोले की दो साध्वियों, महासती श्री सुन्दरीजी महाराज के टोले की चार साध्वियों और महासती श्रीस्नेहकुमारीजी महाराज के टोले की एक साध्वी ने लिखित रूप में यह स्वीकार किया है कि उनका इन दोनों मुनियों से मर्यादाहीन पत्राचार एवं संबंध रहा है। वे आचार्यश्री द्वारा निर्देशित दण्ड स्वीकार करने के लिये तैयार हो गयीं हैं। महासंघ ने निश्चय किया है कि जब तक आचार्यश्री दंड की घोषणा नहीं कर देते, जब तक ये साध्वियां न तो पट्टे पर बैठकर प्रवचन करेंगी और न ही गोचरी के लिये गृहस्थों के घर पर जायेंगी।

महाधिवेशन की कार्यवाही में बाधा पहुंचाने के लिये इन दोनों दोषी साधुओं ने दिल्ली के बाहर से अपने कुछ तथाकथित समर्थकों को भी बुलवा भेजा था, जिन्होंने आयोजकों से हाथापाई भी की। महासंघ के अनुरोध पर पुलिस के द्वारा ऐसे चार दर्जन से अधिक लोगों को हिरासत में लेने के बाद ही अधिवेशन में शांति कायम हो सकी। ये लोग समीपवर्ती हरियाणा से बुलाये

गये थे। अधिवेशन में उत्पात मचाने वालों के इस घिनौने कृत्य की भर्त्सना भी की गयी।

कुछ साधु-सन्तों ने जमीन-जायदादें अपने नाम करा रखीं हैं, उन सबके समाजीकरण का प्रस्ताव भी अधिवेशन में पारित किया गया। इन मुनियों के कदाचरण से लोगों में भारी रोष है और उनका यह सर्वसम्मत मत है कि अधिवेशन में पारित प्रस्तावों के क्रियान्वन के लिये जो भी कानूनी, सामाजिक अथवा धार्मिक कार्यवाही जरूरी हो, वह अविलम्ब और पूरी दृढ़ता के साथ की जाये।

अधिवेशन के बाद भी स्थानकवासी समाज के प्रमुख और प्रबुद्ध लोगों में गम्भीर चिन्तन चल रहा है। ऐसे ही लोगों ने एक बैठक में अल्पवय में दी जाने वाली अपरिपक्व दीक्षाओं पर भी प्रतिबंध लगाने की अपील की है। उनका मत है कि ऐसे साधु ही युवावस्था में पहुंचकर अमर्यादित आचरण करने लगते हैं। ऐसे साधु-साध्वियों के पुनर्वास का सुझाव भी दिया गया है।

यह जानकारी लोकप्रिय राष्ट्रीय दैनिक "पंजाब केसरी" के दिनांक 19, 22 एवं 23 जुलाई के अंकों में विस्तार से प्रकाशित हो चुकी है। उनकी कतरनें हमें महासभा के प्रमुख सूत्रधार माननीय श्रीमान् उम्मेदमल जी पाण्ड्या के सौजन्य से प्राप्त हुई हैं। श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन महासंघ (पंजीकृत) के मुखपत्र "महावीर मिशन" के जुलाई अंक के पृष्ठ 20-21 पर भी इस अधिवेशन की सम्पूर्ण कार्यवाही का प्रामाणिक विवरण प्रकाशित हुआ है। महासंघ के महामंत्री श्री रोशनलालजी जैन ने कृपापूर्वक हमें जून-जुलाई के अंक सुलभ करा दिये हैं। इन अंकों से स्थानकवासी समाज की जागरूकता का अच्छा परिचय मिलता है।

हम क्या करें?

दुर्भाग्य से अपना दिगम्बर जैन समाज भी ऐसी लज्जास्पद घटनाओं की गिरफ्त में है। ऐसे ही एक काण्ड की अनुगूंज तो पिछले वर्षों में राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कई महीनों तक लगातार सुनायी देती रही। रेडियो और राष्ट्रीय समाचार-पत्रों की सुर्खियों में भी यह प्रसंग चटखारों के साथ छपता

रहा। उस घटना को लेकर कैसी-कैसी फब्तियां हम सबको सुननी पड़ीं, इसे दोहराने की जरूरत नहीं हैं। उसके बाद भी लगता है कि हमने कोई सबक नहीं सीखा। आये दिन कुछ साधु-संघों में स्त्रीजनित वासना की कहानियां खुसुर-पुसुर के रूप में लोगों की जुबानी जब सामने आती हैं तो मर्मान्तक पीड़ा होती है। सिर लज्जा से नीचा हो जाता है। हो सकता है कि ऐसी बातों में कोई सार या सत्य न हो किन्तु हमारा तो कहना यह है कि किसी भी साधु के चरित्र पर कोई उंगली ही न उठा सके, ऐसा उसका जीवन होना चाहिए। यदि मूलाचार के अनुसार प्रवृत्ति हो तो आरोप लगाने की किसी की हिम्मत ही नहीं हो सकती।

शीलभंग या गर्भपात की घटनाओं की उपेक्षा करना जेन संस्कृति के लिये घातक सिद्ध होगा। हमारा प्रथम विनम्र सुझाव तो यही है कि हमारे सभी पूज्य आचार्यवृन्द न तो इसे अनदेखा करें और न ऐसी घटनाओं पर मौन ही रहें। इस पाप में संलग्न कोई भी क्यों न हो, उसे दण्डित किया जाना चाहिए और यह दायित्व हमारे आचार्यों का ही है। आचार्यगण यह भी देखें कि मुनिसंघों में ब्रह्मचारिणियों और आर्यिकाओं के रहने की पृथक्-पृथक् व्यवस्था हो तथा सूर्यास्त के बाद साधुओं के साथ उनका मिलना-जुलना निषिद्ध हो। अन्य जो भी कदम उठाना आवश्यक हो, गम्भीर चिन्तन कर अविलम्ब आचार्यगण उस पर निर्णय लें।

यदि पूज्य आचार्य महाराज इस दिशा में सक्रिय न हों तो हमारा दूसरा सुझाव यह है कि इस तरह के अनाचार पर विचार करने के लिये अखिल भारतीय स्तर की तीनों संस्थाओं महासभा, महासमिति ओर परिषद् के जागरूक कार्यकताओं का एक महासंघ बने, जो री वर्धमान स्थानकवासी जैन महासंघ की तर्ज पर जैन समाज का एक महाधिवेशन बुलाकर आवश्यक निर्णय ले। घोर निन्दा और लोकापवाद से धर्म और संस्कृति को बचाने के लिये यह कटु उपचार हमें करना ही होगा। इत्यलम्।

—अध्यक्ष

अ. भा. दि. जैन शास्त्रि परिषद्

"अनेकान्त सिद्धान्त का दुरुपयोग"

–कुमार अनेकान्त जैन

भगवान महावीर ने बहुत बड़े सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, वह है–'अनेकान्त'। अनेकान्त की दार्शनिक परिभाषा इस प्रकार है–"एक ही वस्तु में वस्तुत्त्वपने को निपजाने वाली–परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाली शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना ही 'अनेकान्त' कहलाता है। अनेकान्त की दार्शनिक परिभाषा ने व्यवहार के धरातल पर कदम रखा तो संतों, महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों ने इसकी व्यवहारिक व्याख्यायें कीं और इसे जनसमुदाय की सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में उपयोगी बतलाया और अनेकान्त विश्व-व्यापक हो गया। जो समस्या उठती उसका समाधान अनेकान्त दे देता। वस्तु एक है उसके धर्म (गुण) अनन्त हैं। उसमें अनन्त शक्तियां हैं, किन्तु मानव की दृष्टि. सीमित या पक्ष एक होने के कारण वह उसे अपने-अपने नजरिये से देखता है। अपनी दृष्टि को ही सत्य समझकर वस्तु में व्याप्त अन्य दृष्टिगत गुणों की अवहेलना करके वह शोर मचाता रहता है दूसरों से लड़ता रहता है। सारी समस्यायें, द्वेष, विद्रोह मात्र इसी कारण होते हैं कि हम किसी भी बात का मात्र वही एक पहलू देखते हैं जो हमारे स्वार्थों के करीब होता है। हमारा दृष्टिकोण भी सत्य हो सकता है तथा हमारे अलावा अन्य दृष्टिकोण भी सत्य हो सकते हैं ऐसा चिंतन ही अनेकान्तपरक चिन्तन कहलाता है जो कि विद्रोहों, झगड़ों और समस्याओं से हमें मुक्त रख सकता है।

अनेकान्त को व्यापक बनाने के प्रयास तेज हुए हैं। उसकी प्रासंगिकता भी बढ़ी, लोकप्रियता भी बढ़ी। किन्तु उसे व्यापक बनाते-बनाते उसकी मूल अवधारणा पर भी आघात लगने लगा। वर्तमान में बड़े-बड़े संतों से लेकर बड़े-बड़े विद्वान् भी अनेकान्त का मतलब मात्र इतना समझते हैं कि "मैं भी सही, तुम भी सही", "तुम भी सही मैं भी सही" "ये भी सही, वो भी सही"। किन्तु यह मिथ्या भ्रांति है। अनेकान्त विषय पर कुछ लिखने या कहने से पूर्व हमें यह विचार करना चाहिए कि वास्तव में हमने अनेकान्त को समझा है या नहीं? उसको पढ़ा है या नहीं? उसके शास्त्रीय आधार को जाना है या नहीं?

अनेकान्त की मूल अवधारणा को समझे बिना उसके बारे में व्यर्थ मनोरंजक, आकर्षक दिखने वाली भाषणबाजी अनेकान्त के स्वरूप को न सिर्फ बिगाड़ती है अपितु उसके यथार्थ स्वरूप का बोध न होने से उसके प्रतिश्रद्धा को भी कम करती है। अतः सर्वप्रथम साधारण सरल शब्दों में हम अनेकान्त का वास्तविक स्वरूप समझें।

क्या है अनेकान्त? –:

एक ही वस्तु में अनन्त धर्मगुण होते हैं वह किसी एक गुण या धर्म वाली नहीं होती। अब प्रश्न उठता है कि वस्तु के अनन्त धर्मों को क्या एक साथ कहा जा सकता है? यह कठिन समस्या है। ऐसा असंभव है। अतः इसके वचन व्यवहार के लिये अपेक्षावाद का विकल्प सामने आया। एक बार में वस्तु का एक ही धर्म कहा जा सकता है, सभी धर्म नहीं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे सभी धर्म वस्तु में हैं ही नहीं। वस्तु के अनन्त धर्म को मुख्य गौण की विवक्षा करके कथन किया जाता है। एक बार एक सभा में पांच समान स्तर के प्रतिष्ठित मंत्रियों को आमंत्रित किया गया। संचालक महोदय को समस्या हो गयी कि वह वाणी के द्वारा पहले किसका अभिनन्दन माइक पर बोले? वह सभी का नाम एक समय में तो कह नहीं सकता। किसी-न-किसी का नाम तो आगे या पीछे लेना ही पड़ेगा। यही समस्या वस्तु के अनन्त धर्म के बारे में है–किसे पहले कहा जाय और किसे बाद में?

अपेक्षावाद ने इसका समाधान दिया। इसे ही स्याद्वाद कहा जाता है। स्यात् + वाद। यहां स्यात् पद का अर्थ है कथंचित् या किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ है कथन। अर्थात् किसी अपेक्षा से कथन। वर्तमान में बड़े-बड़े दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर एवं विद्यार्थी भी जैन दर्शन के स्याद्वाद को "शायदवाद" के रूप में कहकर अपने ज्ञान की अल्पता का परिचय देते हैं। "शायदवाद" अनिश्चयात्मक ज्ञान है जबकि स्याद्वाद में जिस अपेक्षा कथन किया जाता है वह पूर्णतः सत्य और निश्चयात्मक होता है। हम प्रतिदिन इस स्याद्वाद का सहारा लेकर ही वचन व्यवहार करते हैं। यह बात अलग है कि उसे हम जानते नहीं हैं। हमारे परिवार में एक छोटा-सा बच्चा भी इसे समझता है। उसकी मम्मी

जब उससे कहती हैं कि जाओ बेटे पापा को बुला लाओ तब वह नाना या दादा को नहीं वरन् अपने पिता को ही बुलाकर लाता है। उसे इस बात का ज्ञान है कि मम्मी ने 'पापा' शब्द मेरी अपेक्षा कहा है न कि अपनी अपेक्षा। वास्तव में स्याद्वाद वचन शैली के बिना जगत में वचन व्यवहार चल ही नहीं सकता।

अनेकान्त में भी अनेकान्त –:

प्रश्न उठता है कि क्या वस्तु मात्र 'अनेकान्त' स्वरूप ही है? यदि ऐसा कहा जाय तो यहां भी 'एकान्त' का प्रसंग आयेगा। जैनाचार्यो ने इसका समाधान किया –

"अनेकान्तोऽपि अनेकान्तः प्रमाणनय साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।"

यहां आचार्यो ने अनेकान्त को भी अनेकान्त स्वरूप बतलाया। वे कहते हैं कि प्रमाण और नय का साधन होने से अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है।

अनेकान्त भी दो प्रकार का होता है –

1. सम्यक् अनेकान्त 2. मिथ्या अनेकान्त

अनेकान्त का प्रतिपादन करते समय इन्हीं दो भेदों को समझने में भूल हो जाती है। यहां मिथ्या अनेकान्त द्वेष है अप्रयोजन भूत है। उसकी न तो दार्शनिक धरातल पर कोई उपयोगिता है और न ही व्यवहारिक धरातल पर।

'ये भी सही वो भी सही', 'हम भी सही तुम भी सही' के नारे जो अनेकान्त को लेकर चल पड़े हैं वे अनेकान्त के सम्यक् और मिथ्या स्वरूप को न समझने के कारण ही उत्पन्न हो रहे हैं जिससे समाज में भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। लोग कहते हैं जहां अनेकान्त है वहां मतभेद नहीं हो सकता। मतभेद तो वस्तु का स्वरूप है वह क्यों न होगा? क्या चांद और सूरज में भेद नहीं है? क्या नर और नारी में भेद नहीं है? क्या षड्द्रव्यों में भेद नहीं हैं? हाँ, मानवीय मूल्यों की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जहां अनेकान्त हो वहां मतभेद नहीं हो सकता।

क्या है मिथ्या अनेकान्त –

मिथ्या अनेकान्त को समझने के लिए मिथ्याएकान्त को समझ लेना

होगा। जहां वस्तु में स्थित अन्य सभी धर्मों का 'निषेध' करके किसी एक धर्म का कथन किया जाता है या फिर उस धर्म का कथन किया जाता है जो वस्तु में हैं ही नहीं तब वह मिथ्याएकान्त कहलाता है। इन्हीं मिथ्याएकान्तों का जब समूह हो जाता है तब वह मिथ्या अनेकान्त बन जाता है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई अग्नि को देखकर यह कहे कि यह काली है और कोई दूसरा उसी अग्नि को देखकर यह कहे कि यह तो भूरी है और कोई तीसरा अनेकान्ताभासी झगड़ा निपटाने की दृष्टि से यह कहे कि पहला भी सही है और दूसरा भी सही है तो यह अनेकान्त मिथ्यास्वरूप वाला होगा। इसकी कोई उपयोगिता ही नहीं है। वस्तु में अनन्त धर्म तो होते हैं किन्तु सभी धर्म नहीं। आत्मा को कोई चेतन कहे और कोई अचेतन तब उसमें प्रथम बात ही सही हो सकती है। ये दोनों बातें सही हैं—ऐसा अनेकान्त के सच्चे स्वरूप को न समझने वाला ही कह सकता है।

इसी संदर्भ में हम एक और उदाहरण लें कि भारत में विभिन्न धर्म मानने वाले लोग हैं। कुछ लोग मांसाहार करते हैं और उसमें धर्म मानते हैं और कुछ इसको घोर अधर्म। बात तो कोई एक ही ठीक है। इस स्थान पर कोई बड़बोला, छद्म सम्प्रदायनिरपेक्षवादी, वोटबैंकाकांक्षी यह भाषण देता फिरे कि दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा ठीक हैं तब यह मिथ्या अनेकान्त होगा। हमें अनेकान्त में प्रयुक्त 'भी' को 'ही' की नींव और धरातल पर खड़ा करना होगा, वही सच्चे अनेकान्त का स्वरूप होगा। यह दृष्टि दुराग्रह की न होकर सत्याग्रह की होगी। लोग कहते हैं अनेकान्त में आग्रह नहीं होता—ऐसा कहना गलत है। इस स्थान पर यह कहना चाहिए कि अनेकान्त में दुराग्रह नहीं होता। सूर्य तो पूरब से ही निकलेगा, कोई कहे कि पश्चिम से भी, दक्षिण से भी और यदि हम अनेकान्त का सहारा लेकर उन दोनों की बात स्वीकार करें तो यह अनेकान्त का दुरुपयोग ही होगा।

क्या है सम्यक् अनेकान्त?

सम्यक् अनेकान्त को भी समझने के लिए सबसे पहले सम्यक् एकान्त को समझना होगा। सम्यक् एकान्त में वस्तु में उपस्थित अन्य सभी धर्मो का निषेध न करके वरन् उन्हें गौण करके कथन किया जाता है। इसी प्रकार सम्यक् एकान्तों का समूह सम्यक् अनेकान्त बन जाता है। यह उपादेय है—ग्रहण करने

योग्य है। यह व्यवहारिक धरातल पर भी उपयोगी है। वास्तव में जिस अनेकान्त को व्यापक बनाना है जिसके आधार पर हमें समस्याओं का समाधान खोजना है वह यही है। उदाहरण के तौर पर एक कहता है कि अग्नि उष्ण है और एक कहता है कि अग्नि लाल है तब तीसरा अनेकान्त वाला व्यक्ति कहता है—इसमें लड़ने की क्या बात है। तुम दोनों ही सही हो। अग्नि का स्वभाव एक ही समय में उष्णत्व भी है और लालत्व भी है। यहां सम्यक् अनेकान्त होता है। यह दार्शनिक और व्यवहारिक दोनों ही स्थानों पर उपयोगी बनता है। मगर अनेकान्त को समझने के लिए दृष्टि चाहिए। मनगढ़ंत, बिना जाने समझे, बिना विचार के इस विषय पर चाहे जैसा बोलना और फिर तर्कों का सामना करना—अनेकान्त की छवि को भी धूमिल करता है और वक्ता की छवि को भी।

अनेकान्ताभास —:

अनेकान्त पर स्थूल ज्ञान रखने वाले कई विद्वानों से यह अक्सर सुना जाता है कि जैनदर्शन का अनेकान्त सभी धर्मों का मिश्रण है। ये सबको अच्छा बतलाया है और न जाने क्या-क्या? किन्तु किस चीज़ को वह अच्छा बतलाया है? क्या उस चीज को भी जो गलत है? नहीं। अनेकान्त की दृष्टि सत्याग्रह की दृष्टि है वह वस्तु के उन्हीं धर्मो की मुख्य गौण रूप से चर्चा करता है जो वस्तु में निहित है। उसमें विद्यमान है। लोग अतिरेक में यह भी कह जाते हैं कि अनेकान्त तो समुद्र के समान है जहां सभी धर्मों, दर्शनों की नदियां आकर मिल जाती हैं। किन्तु गंभीरता से विचार किया जाय तो क्या यह सही लगता है? उपादेयता की दृष्टि से दृष्टान्त में ही देखें तो क्या समुद्र का खारा पानी पीने योग्य होता हे? क्या अनेकान्त वास्तव में ऐसा समुद्र हो सकता है जिसका जल ग्रहण करने योग्य न हो। नहीं कदापि नहीं। ऐसा स्वरूप तो मिथ्या अनेकान्त का ही हो सकता हैं अनेकान्त कोई समुद्र नहीं है जहां सारी नदियां आकर मिलती हैं। अनेकान्त हिमालय के समान है जहां से सारी नदियां प्रस्फुटित होती हैं—और जन जन को आस्था का केन्द्र बनाती हैं, लोगों को तृप्त करती है। संक्षेप में समझें समुद्र मिथ्या अनेकान्त का दृष्टान्त है और हिमालय सम्यक् अनेकान्त का दृष्टान्त है।

हमें इस तथ्य को गंभीरता से समझना होगा कि क्या सौ झूठों को

मिलाकर कभी एक सत्य बन सकता है? किन्तु अनेकान्तभासी ऐसा करने से भी नहीं चूकते। हम अनेकान्ताभास को समझने लगेंगे तो हमारे ख्याल में अनेकान्त सहज ही आ जाएगा।

एक किसान की लड़की यौवन की दलहीज को पार करते हुए पैंतीस वर्ष की हो गयी। उसके लिए लगभग चालीस वर्ष का वर खोजना मुश्किल हो गया। किसी ने सलाह दी यदि चालीस वर्ष का वर न मिलता हो तो बीस-बीस वर्ष के दो लड़कों से विवाह कर दो। स्थिति हास्यास्प्रद बन गई, क्या यह समाधान है? यद्यपि दोनों बीस-बीस वर्ष के युवक अपनी-अपनी अपेक्षा ठीक हैं किन्तु क्या वे चालीस वर्षीय व्यक्ति का स्थान ले सकते हैं? यहां समस्या उत्पन्न हो जाती है। अतः हम इन उदाहरणों से समझें कि क्या हम अनेकान्त पर बोलते समय ऐसी स्थितियां तो उत्पन्न नहीं कर रहे।

एक बालक पुस्तक विक्रेता की दुकान पर जाकर आठवीं की गणित की पुस्तक मांगता है। विक्रेता कहता है—यह पुस्तक तो नहीं है ऐसा करो तुम एक पांचवी की पुस्तक ले जाओ और एक तीसरी की पुस्तक ले जाओ—तुम्हारा आठवीं का काम चल जायेगा। इसे ही अनेकान्ताभास कहते हैं। क्या उस बालक का समाधान होगा? इसी उदाहरण से हम अनेकान्त को समझें। बालक उसी विक्रेता से एक अन्य पुस्तक बारह रुपये में खरीदता है और बीस का नोट देता है। विक्रेता क्रमशः पांच का, दो का तथा एक का नोट आठ रुपये के लिए वापस करता है। बालक का काम हो जाता है। यहां सम्यक् अनेकान्त है, यह उपादेय है।

हम विश्व की हर समस्या का समाधान अनेकान्त में खोज सकते हैं किन्तु अनेकान्त के स्वरूप को निखारकर, उसके स्वरूप को व्यर्थ ही लच्छेदार भाषणबाजी के लिए बिगाड़कर समस्याओं का समाधान उसमें नहीं खोज सकते। अनेकान्त की विश्व को आवश्यकता है। मगर अनेकान्त के साथ एक परेशानी है कि ये एकान्तदृष्टि का मानव अनेकान्त के स्वरूप को भी एकान्त में ढकेल देता है। अनेकान्त कहता है—मुझे समझने के लिए पुरुषार्थ चाहिए, धैर्य चाहिए, सहिष्णुता साहिए, अनन्त दृष्टियां चाहिए।

"अपने चेहरे से जो जाहिर है छुपायें कैसे?
हम आपकी नज़रों के मुताबिक नज़र आयें कैसे?

कोई अपनी ही नज़रों से तो हमें दे देखेगा
एक कतरे को समुन्दर नज़र आये कैसे?

जैनदर्शन के महानवेत्ता क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी जी ने इतनी व्यापक दृष्टि रखते हुए भी 'नयदर्पण' के प्रथम अध्याय में ही अत्यंत विनम्रतापूर्वक अपनी अनेकान्त दृष्टि की समीक्षा करने को कहा है – "अब तुझे यह देखना है कि कहीं मेरे अन्दर तो इस प्रकार का कोई कदाग्रह नहीं पड़ा है। यह बात शब्दों पर से निर्धारित नहीं की जा सकती। शब्दों में पूछने पर तो मैं अनेकान्तवादी हूं ही, अनेकान्तवादियों का शिष्य जो हूं। जैन मत अनेकान्तमत है और मैं भी जैनी हूं, इसलिये मेरी सब बातें सत्य हैं। ऊपर नियम जो बना दिया है कि जैनियों की बात सच्ची और अन्य की बात झूठी। प्रभो! ऐसा अर्थ करने का प्रयत्न न कर। यहां साम्प्रदायिकता को अवकाश नहीं। जैन सम्प्रदाय जैनमत नहीं है। अनेकान्तिक धारणाओं का नाम जैनमत है। मत अनेकान्त अवश्य है, पर मैं अनेकान्तिक हूं या नहीं, विचार तो इस बात का करना है।"

हम भूल यह करते हैं कि अनेकान्त को अनेकान्त की दृष्टि से न देखकर अपनी स्वयं की एकांत दृष्टि से ही देखते हैं। जो वस्तु जैसी है उसका जो स्वरूप है। क्या उससे भिन्न दृष्टि अनेकान्त को मंजूर होगी? अनेकान्त जैसा है हमें वैसा ही मंजूर क्यों नहीं? हम उसे अपने चिन्तन जैसा क्यों बनाना चाहते हैं? इस विषय पर गहराई से विचार की आवश्यकता है कि हमें अपने चिन्तन को अनेकान्त के अनुरूप बनाना है या अनेकान्त को अपने चिंतन के अनुरूप। अनेकान्त का उपयोग हो, दुरुपयोग नहीं। अपने आपको अनेकान्त के फ्रेम में फिट करें न कि अनेकान्त को अपने फ्रेम में। जब ऐसा होगा तभी हम सच्चे अनेकान्त को पा सकेंगे, उसके सच्चे स्वरूप को विश्व के समक्ष रख सकेंगे और अनेकान्त स्वरूपी भगवान आत्मा की अखण्ड अनुभूति कर सकेंगे। "अनेकान्तानुभूतिजयवन्तवर्ते"

शोध छात्र
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग
जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं–341306

शिखरजी के प्रति हमारे पूर्वजों का योगदान और हमारा कर्त्तव्य

— सुभाष जैन

अनादि निधन तीर्थ श्री सम्मेद शिखरजी जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों की श्रद्धा का केन्द्र है क्योंकि इस पर्वत से बीस तीर्थकर एवं असंख्य मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है। पर्वत पर 21 प्राचीन टोंके हैं। 20 में तीर्थंकरों के तथा एक टोंक में गणधरों के चरण चिन्ह प्रतिष्ठित हैं।

समय के साथ साथ राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक उथल-पुथल के कारण जैन धर्म की प्राचीनता (निर्ग्रन्थता) पर कुठाराघात होता रहा। मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का यही मुख्य कारण बना। ईसा की पांचवी शताब्दी के अन्त में बल्लभी वाचना के समय जैनों का एक सम्प्रदय प्राचीन जैन समाज से अलग हो गया। प्राचीन जैन दिगम्बर कहलाने लगे और अलग हुआ सम्प्रदाय मूर्तिपूजक श्वेताम्बर कहलाया।

उक्त तथ्यों की पुष्टि विश्व के इतिहासकारों ने इस प्रकार की है।

"....श्वेताम्बरों का अस्तित्व अल्पकाल से बमुश्किल ईसा की पांचवी शताब्दी से है जबकि दिगम्बर निश्चित रूप से वहीं निर्ग्रथ हैं जिनका वर्णन बौद्धों के धर्म ग्रन्थों के अनेक परिच्छेदों में हुआ है। इसलिए वे ईसा पूर्व 600 वर्ष प्राचीन तो हैं ही। भगवान महावीर और उनके प्रारंभिक अनुयायियों की अत्यंत प्रसिद्ध बाह्य विशेषता थी—उनके नग्न रूप में भ्रमण करने की क्रिया, और इसी से दिगम्बर शब्द बना।"

(एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका खण्ड-25 ग्याहवां संस्करण सन 1911)

"....हिन्दुओं के प्राचीन दर्शन ग्रन्थों में **जैनियों को नग्न अथवा दिगम्बर** शब्द से सम्बोधित किया गया है।" **(श्री एच. एस. विल्सन)**

"मथुरा से कुशाण काल निर्मित तीर्थंकरों की जो प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। उनमें यदि जिन भगवान खड्गासन मुद्रा में हैं तो निर्वस्त्र (नग्न) दिगम्बर हैं और यदि पद्मासन हैं तो उनकी बनावट इस प्रकार की है कि न तो उनके वस्त्र और न गुप्तांग दिखाई देते हैं। गुजरात के अकोटा स्थान से ऋषभनाथ की अवरभाग पर वस्त्र सहित जो खड्गासन प्रतिमा मिली है वह ईसा की पांचवी शताब्दी के अंतिम काल की मानी गयी है जो कि बल्लभी में हुए अंतिम अधिवेशन

(वाचना) का समय भी है। इससे पता चलता है कि बल्लभी के इस अंतिम **अधिवेशन से ही श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ।"**

(एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका खण्ड-10 पृष्ठ 11 सन् 1981)

दिगम्बर जैन समाज सदैव ही असंगठित रहा। अपने तीर्थों के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा तो रही किन्तु संगठन और धनाभाव के कारण उनके विकास और व्यवस्था के प्रति कुछ उदासीन भी रहा। ठीक इसके विपरीत मूर्तिपूजक श्वेताम्बर संगठित और धनाढ्य रहा। इसी का लाभ उठाकर उन्होंने प्राचीन तीर्थों पर अपना कब्ज़ा करने की कूटनीति अपनाई। इसी नीति के अंतर्गत उन्होंने शिखरजी को अपना साबित करने के लिए कई चालें चली। अकबर के फरमान के आधार पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया किन्तु पटना हाईकोर्ट ने फरमान को जाली करार दिया। राजा पालगंज से खरीदारी के आधार पर तीर्थ को अपना बताया। पर्वतराज के बिहार सरकार में निहीत हो जाने से यह चाल भी नहीं चल पाई। वैसे भी सुप्रीम कोर्ट की नज़ीर है कि मंदिर-पूजा स्थल बेचे और खरीदे नहीं जाते। अंततोगत्वा प्रिवीकोंसिल ने सभी प्राचीन टोंको में दिगम्बरी आम्नाय के चरण-चिन्ह प्रतिष्ठित होने की पुष्टि की। इस सब के बावजूद मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों ने अन्य कई प्रकार के हथकण्डे अपना कर तीर्थराज पर अपना आधिपत्य जमाने और दिगम्बरों को हटाने का अभियान जारी रखा। ऐसे संकट काल में संगठन का अभाव होते हुए दिगम्बर जैन समाज के कई महानुभाव तीर्थराज की रक्षार्थ व्यक्तिगत रूप में आगे आए और समर्पण भावना से सेवा में जुट पड़े। इनमें सहारनपुर के सेठ जम्बूप्रसाद का नाम उल्लेखनीय है। उनके विषय में प्रसिद्ध साहित्यकार श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं।

श्री जम्बूप्रसाद जैन का अद्भुत त्याग

"सारा समाज सो जाये, कोई साथ न दे, तब भी मैं लड़ूंगा !"

राजा ने सम्मेदशिखरजी का तीर्थ श्वेताम्बर समाज को बेच दिया था उससे तीन प्रश्न उभर आये थे। श्वेताम्बरों का आग्रह था कि हम दिगम्बरों को इस तीर्थ की यात्रा न करने देंगे, यह दिगम्बरियों का घोर अपमान था, यह पहला प्रश्न। राजा को तीर्थ बेचने का अधिकार नहीं है, क्योंकि तीर्थ कोई सम्पत्ति नहीं है, यह दूसरा प्रश्न और तीर्थ के सम्बन्ध में दिगम्बरों के अधिकार का प्रश्न।

दिगम्बर समाज का हर एक आदमी बेचैन था, पर कोरी बेचैनी क्या करेगी? यहाँ तो आगे बढ़कर एक पूरा युद्ध सिर पर लेने की बात थी, उसके लिए

प्रायः कोई तैयार न था। इतने विशाल समाज में एक सिर उभरकर उठा, एक कदम आगे बढ़ा और एक वाणी सबके कानों में प्रतिध्वनित हुई –

"सारा समाज सो जाये, कोई साथ न दे, तब भी मैं लड़ूंगा। यह दिगम्बर समाज के जीवन-मरण का प्रश्न है। **मैं इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता !"**

यह सहारनपुर के प्रख्यात रईस ला. जम्बूप्रसादजी की वाणी थी, जिसने सारे समाज में एक नवचेतना की फुहार बरसा दी। मीठे बोल बोलना भले ही मुश्किल हो, ऊंचे बोल बोलना बहुत सरल है। इस सरलता में कठिनता की सृष्टि तब होती है, जब उनके अनुसार काम करने का समय आता है। लालाजी ने ऊंचे बोल बोले और उन्हें निबाहा, **50 हजार चांदी के सिक्के अपने घर से निकालकर उन्होंने खर्च किये** और श्री ला. देवीसहायजी फीरोजपुर-निवासी एवं श्री तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बई के कन्धे से कन्धा मिलाकर पूरे ढाई वर्ष तक रात-दिन अपने को भूले, वे उसमें जुटे रहे और तब चैन से बैठे, जब समाज के गले में विजय की माला पड़ चुकी।

मुकद्दमे के दिनों में ही उनकी पत्नी का भयंकर आपरेशन हुआ। मृत्यु सामने खड़ी थी, जीवन दूर दिखाई देता था, सबने चाहा कि वे पास रहें, पर उन्हें अवकाश न था, वे न आये। **यह उनकी धुन, उनकी लगन की एक तस्वीर है, बहुत चमकदार और पूजा के लायक,** पर यह अधूरी है, यदि हम यह न जान लें कि तब लाला जम्बूप्रसाद किस स्थिति में थे, जब समाज के अपमान का यह चैलेंज उन्होंने स्वीकार किया था।

सन् 1877 में जन्मे और 1900 में इस स्टेट में दत्तक पुत्र के रूप में आये। तब वे मेरठ कालिज के एक होनहार विद्यार्थी थे। 1893 में उनका विवाह हो गया था, पर विवाह का बन्धन और इतनी बड़ी स्टेट की प्राप्ति उनके विद्या-प्रेम को न जीत सकी और वे पढ़ते गये, पर कुटुम्ब के दूसरे सदस्य स्टेट के अधिकारी बनकर आये और मुकद्दमेबाजी शुरू हुई। यह जीवन-मरण का प्रश्न था, कॉलेज को नमस्कार कर वे इस संघर्ष में आ कूदे और 1907 में विजयी हुए। पण्डित मोतीलाल नेहरू प्रिवीकौंसिल में आपके वकील थे और अपनी विजय, किसी विवाहित युवा के दत्तक होने की पहली नज़ीर थी। यह विजय बहुत बड़ी थी, पर बहुत महंगी भी। स्टेट की आर्थिक स्थिति पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था और आप उसे संभाल ही रहे थे कि शिखरजी का आह्वान आपने स्वीकार कर लिया।

तीर्थ-रक्षक–अजितप्रसाद जैन

लखनऊ के श्री अजितप्रसाद जैन एडवोकेट ने दिगम्बरों के अधिकारों की

रक्षा हेतु अपना जीवन ही समर्पित कर दिया। "अज्ञात जीवन" पुस्तक में उनके परिश्रम और त्याग की भावना के प्रति हम नतमस्तक हैं।

तीर्थक्षेत्र कमेटी

दिगम्बर जैन समाज के वास्तविक दानवीर श्री सेठ माणिकचन्द हीराचन्द, Justice of the Peace "शान्ति रक्षक" पदवी से विभूषित, जैन जाति-उद्धारक, जैन धर्म सेवक, जैन धर्म प्रभावना संचारक, धर्मवीर ने श्वेताम्बर जैन समाज के अत्याचार तथा जैन तीर्थ क्षेत्रों पर अनधिकृत आक्रमण के कारण एक कमेटी की स्थापना करना आवश्यक समझा।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी का कार्यालय नियमानुसार बम्बई की हीराबाग धर्मशाला में खोला गया। सेठजी ने महामंत्री पद का काम अपने ऊपर लिया।

तीर्थक्षेत्र कमेटी की स्थापना के समय से सेठ माणिकचन्द जी नित्य प्रति हीराबाग धर्मशाला के कार्यालय में 3-4-5 घंटे कार्य की आवश्यकतानुसार स्वतः पधारते थे, सब पत्र व्यवहार करते और कामकाज देखते थे।

पूजा केस

7 मार्च 1912 को बाबू महाराज बहादुरसिंह ने श्वेताम्बर जैन संघ की ओर से, सेठ हुकुमचन्द तथा 18 अन्य भारतवर्षीय दिगम्बर जैन समाज के प्रमुख सदस्यों के विरुद्ध, आर्डर 8 रूल 1 के अनुसार, सबजज हज़ारीबाग की कचहरी में नालिश पेश की।

मुद्दई का दावा था कि श्री सम्मेदशिखर जी निर्वाण-क्षेत्र स्थित टोंक, मन्दिर, धर्मशाला सब श्वेताम्बर संघ द्वारा निर्मित हुई हैं। **दिगम्बराम्नायी जैनियों को श्वेताम्बर आम्नाय के विरुद्ध और श्वेताम्बर संघ को अनुमति बिना प्रक्षाल-पूजा आदि करने का अधिकार नहीं है; न वह धर्मशाला में ठहर सकते हैं।**

यह मुकद्दमा साढ़े चार बरस से ऊपर चला। उभय पक्ष का कई लाख रुपया व्यर्थ खर्च हुआ। अन्तिम निर्णय सब-जजी से 31 अक्टूबर 1916 को हुआ।

इस निर्णय के अनुसार श्री ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ, महावीर स्वामी तीर्थंकरों का निर्वाण श्री कैलाश (हिमालय), चंपापुर (भागलपुर), गिरनार (गुजरात), पावापुर (पटना) से हुआ है। इन चार तीर्थङ्करों की टौंको के अतिरिक्त **अन्य**

सब टौंको में प्रतिवादी दिगम्बरी संघ का प्रक्षाल-पूजा का अधिकार निश्चित पाया गया। दिगम्बरी समाज के यात्री प्रातः जाते हैं, और सूर्यास्त से पहले वापस लौट आते हैं। वह पर्वतराज पर अन्न-जल नहीं लेते।

गांधीजी पंच बने

1917 का कांग्रेस अधिवेशन देखने के लिए मैं कलकत्ता गया। एक दिन महात्मा भगवान दीन जी के साथ मैं ब्रह्ममुहूर्त में महात्मा गांधी के निवास स्थान पर गया। महात्मा जी से निवेदन किया कि वह दिगम्बर-श्वेताम्बर समाज के पारस्परिक विरोध का, जो कई वरस से चल रहा है, जिसमें कई लाख रुपया उभय समाज का नष्ट हो चुका है और पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ता जा रहा है, अन्त करा दें। महात्मा गांधी ने हमारी प्रार्थना ध्यान से सुनी, और मामले का निर्णय करना स्वीकार किया और कहा कि चाहे जितना समय लगे, मैं इस झगड़े का निबटारा कर दूंगा किन्तु उभय पक्ष इकरार नामा रजिस्टरी कराके मुझे दे दें कि मेरा निर्णय उभयपक्ष को निःसंकोच स्वीकार और माननीय होगा।

महात्मा भगवान दीन जी और मै कितनी ही बार रायबहादुर बद्रीदास जी की सेवा में उनके निवासस्थान पर गए और उनसे प्रार्थना की कि वह श्वेताम्बर समाज की ओर से ऐसे इकरार नामे की रजिस्टरी करा दें। रायबहादुर बद्रीदास जी को आश्वासन दिया कि दिगम्बरीय समाज की ओर से रजिस्टरी करा देने की ज़िम्मेदारी हम अपने ऊपर लेते हैं। लेकिन रायबहादुर जी ने बात को टाल दी। यही कहते रहे कि समाज उनके कहने में नहीं है। कुछ न होना था, कुछ न हुआ। सब प्रयत्न व्यर्थ हुआ।

हज़ारीबाग सबजज के निर्णय की अपील हाईकोर्ट पटना में उभयपक्ष ने किया। दोनों अपील 14 अप्रैल 1921 को खारिज हुए।

उभयपक्ष ने फिर आगे दूसरी अपील लंदन में प्रीवी काउन्सिल में की। वह दोनों अपील भी 16 सितम्बर 1925 को खारिज हुए।

परिणामतः जैन समाज के प्रचुर द्रव्य का अपव्यय और पारस्परिक मनोमालिन्य की वृद्धि हुई। वकील और पैरोकार-मुखतार अमीर हो गए।

इञ्जङ्कशन केस

"पूजा केस" के निर्णय के पश्चात् जिसमें श्वेताम्बर समाज को यथेष्ट सफलता

नहीं प्राप्त हुई, सम्मेदाचल तीर्थराज के श्वेताम्बराम्नायी प्रबन्धकों ने यह प्रयत्न किया कि श्री कुंथनाथ की टौंक के पास जहां से मधुवन के रास्ते से तीर्थराज की यात्रा प्रारम्भ होती है, एक बड़ा फाटक खड़ा करें, जिसमें यात्रियों को यात्रा के लिये श्वेताम्बर समाज की दया-दृष्टि पर निर्भर रहना पड़े, उस फाटक के पास तलवार बंदूक आदि हथियार बन्द सिपाही भी रखे जावें। तीर्थराज पर बिजली गिरने से पूज्य चरणालय जिनको "टौंक" कहा जाता है टूट जाती हैं और नूतन चरण स्थापना की आवश्यकता होती है। ऐसे नवीन चरण श्वेताम्बर समाज के प्रबन्ध से इस रूप में स्थापित किये गये थे जिस रूप में वह दिगम्बर आम्नायी उपासकों द्वारा पूज्य नहीं थे।

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार "चरण चिन्ह" अर्थात् चरणों के तलवों की छाप पूज्य है, किन्तु चरण युगल की आकृति अर्थात् नाखूनदार अंगूठा अंगुलियों की और पंजे की आकृति अपूज्य है। अतः फाटक और सिपाहियों के निवास स्थान बनाने को रोकने और अपूज्य चरणों को हटाकर पूजा योग्य चरण चिन्ह स्थापन किये जाने के वास्ते दिगम्बर समाज की ओर से हज़ारीबाग के सबजज की कचहरी में 4 अक्टूबर 1920 को नालिश दाखिल की गई।

इस मुकद्दमें में (1) सर सेठ हुकुमचन्द, इन्दौर (2) श्री जम्बूप्रसाद, सहारनपुर (3) श्री देवी सहाय, फ़ीरोजपुर (4) सेठ हीराचन्द, शोलापुर (5) सेठ सुखानन्द, बम्बई (6) सेठ दयाचन्द, कलकत्ता (7) सेठ मानिकचन्द, झालरापाटन (8) सेठ टेकचन्द, अजमेर (9) सेठ हरसुखदास, हज़ारीबाग 9 मुद्दई थे।

(1) बाबू महाराज बहादुर सिंह, (2) नगरसेठ कस्तूरभाई, अहमदाबाद, (3) बाबू रायकुमारसिंह, कलकत्ता, (4) सेठ मोतीचन्द, कलकत्ता श्वेताम्बरी जैनसमाज के प्रतिनिधिरूप मुद्दालेह बनाये गये थे।

नालिश आर्डर 8 रूल 1 के अनुसार की गई थी। दिसम्बर 1923 के प्रारम्भ में उस मुकद्दमें में गवाह पेश होने का अवसर आया। सेठ मानिकचन्द जी का स्वर्गवास हो चुका था। **कमेटी की रोकड़ में खर्च के वास्ते पर्याप्त धन नहीं था।** श्री बैरिस्टर चम्पत राय जी हरदोई ज़िले में ख्यातिप्राप्त फौजदारी के विशेषज्ञ वकील थे। **उन्होंने तीर्थराज की सेवा करने और बिना किसी फीस के मुकद्दमे में काम करने के अभिप्राय से बैरिस्टरी का व्यवसाय त्याग दिया,** जिससे उनको कई हज़ार रुपये की मासिक आमदनी थीं श्री चम्पतराय के लिखने पर मैंने भी तीर्थराज की सेवा बिना किसी फ़ीस करना स्वीकार कर लिया।

हम दोनों 2 दिसम्बर 1923 को लखनऊ से चलकर 3 दिसम्बर को हज़ारीबाग पहुंच गये। 4 दिसम्बर 1923 से 16 जनवरी तक हमारी तरफ़ के

गवाह पेश होते रहे, जिनमें मुख्यतया लाला देवीसहाय जी फीरोज़पुर, सेठ हरनरायण जी भागलपुर, - गहब जुगमन्धर दास नजीबाबाद, सर सेठ हुकुमचन्द इन्दौर, रायबहादुर नांदमल अजमेर, रायसाहेब फूलचन्दराय लखनऊ, पंडित पन्नालाल न्याय दिवाकर, पंडित जयदेव जी, पंडित गजाधर लाल जी थे।

रायसाहेब फूलचन्द राय का बयान चालू था कि यकायक 17 जनवरी को सबजज साहेब की हज़ारीबाग से रांची की बदली का हुक्म आ गया। मुकद्दमा चलना बन्द हो गया फिर मुकद्दमा भी हज़ारीबाग से रांची को भेज दिया गया। जहां 25 मार्च 1924 से रायसाहेब फूलचन्द राय की गवाही चलने लगी। 24 अप्रैल 1924 को बाबू महाराजबहादुर सिंह प्रतिवादी नं. 1 के गवाहों के बयान खत्म हुये।

उभयपक्ष की बहस 18 दिन तक चली और 26 मई 1924 को हमारा दावा खर्चे समेत डिगरी हुआ। निर्णायक श्री फणीन्द्र लाल सेन संस्कृतज्ञ सबजज महोदय थे। उस निर्णय का अपील पटना हाईकोर्ट में श्री Ross और श्री Wort दो अंग्रेज जजों के सामने पेश हुआ। श्वेताम्बरी संघ की तरफ से श्री भूलाभाई देसाई ने बहस की थी। **चरण-चिन्ह के विषय में हमारी जीत हुई।**

मैंने 7 वर्ष तक 1923 से 1930 तक तीर्थक्षेत्र कमेटी का काम किया। 46000 मेरे नाम से तीर्थक्षेत्र कमेटी की बही में दानखाते जमा हैं।

कर्त्तव्य पालक : बैरिस्टर चम्पतराय जैन

बैरिस्टर चम्पतराय जैन अपने धर्म के प्रति पूर्णतः समर्पित थे। बाबू कामताप्रसाद जैन ने उनके विषय में जो उद्‌गार व्यक्त किए हैं उनमें से कुछ यहां उद्धृत किए जा रहे हैं।

धर्म-रक्षक – धर्म स्वतः पंगु है—वह धर्मात्माओं का आश्रय चाहता है—धर्मात्माओं के सहारे वह दुनिया में चमकता है। बैरिस्टर सा० स्वयं धर्माश्रय थे। यदि कोई धर्म पर आक्रमण करता तो वह उसका प्रामाणिक उत्तर दिये बिना चुप नहीं होते थे। उन्हें ज्ञात हुआ, बयाना में जैनरथ रुका हुआ है—वह फौरन वहां गये और स्थिति का अध्ययन करके जैनरथ निकलवाने में सतत उद्योगी बने। उन्होंने सुना कि कुड़ची के जैनियों पर गुण्डे अत्याचार कर रहे हैं—गुण्डों ने पूज्य प्रतिमाओं के शत खण्ड कर दिये हैं! कुड़ची भी वह गये और अपने भाइयों को ढाढ़स बंधाया। बोले, "घबराओ नहीं; परिषद् आपके साथ है!" जब भारतीय अधिकारियों ने हमारी बात सुनी-अनसुनी की तो बैरिस्टर सा० ने विलायत जाकर मि० फ्रेनर ब्रॉकवे M.P. द्वारा इस अत्याचार की कहानी भारतमंत्री और पार्ल्यामेंट

तक पहुंचाई। उनकी शक्ति में न्याय पाने के लिए उन्होंने कुछ उठा न रखा; परन्तु **जैनी तो असंगठित हैं–आपस में लड़ने के लिए मर्द हैं!** इस पाप का दण्ड तो मिलना ही चाहिए, किन्तु बैरिस्टर सा० अपने कर्त्तव्य पालन में कभी पीछे नहीं रहे? इसीलिए हम उन्हें धर्मरक्षक कहें तो अनुचित नहीं है।

मुनि-रक्षक – सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और जिनधर्म के वह अटल श्रद्धानी थे। जब मूढ़ जनता ने दिगम्बर मुनियों के नग्न वेषपर अंगुली उठाई एवं सरदार पटेल और महात्मा गांधी ने साधुत्व के लिए नग्नता पर अशिष्टता का लाञ्छन लगाया– परिणामस्वरूप सरकार की ओर से भी कुछ कड़ाई हुई–कई स्थानों पर दिगम्बर मुनि-महाराजों के स्वतन्त्र बिहार में बाधाएं उपस्थित हुई–उस संकट-समय में बैरिस्टर सा० आगे आये। वह दिल्ली में रहे और प्रयत्न किया कि दि० मुनि-विहार पर वैधानिक स्वाधीनता प्राप्त कर ली जावे। उस समय बैरिस्टर सा० ने प्रेस और प्लेटफार्म से साधुत्व के लिए प्रत्येक मत में दिगम्बरत्व को आवश्यक सिद्ध कर दिखाया था। उन्होंने मुझे दिल्ली बुला भेजा–मैंने देखा, वह दिगम्बरत्व की सार्वभौमिकता सिद्ध करने के लिए तन्मय हो रहे थे। उनकी साधुमूर्ति विदुषी बहन मीरादेवी उनके स्वास्थ्य की चिन्ता रखती थीं; परन्तु बैरिस्टर सा० को केवल एक धुन-मुनिरक्षा की थी।

उन्होंने मुनिचर्या के कतिपय ऐतिहासिक प्रसंगों की चर्चा मुझसे की और बोले, "हमारे यहां सच्चे कार्य करने वाले की कदर नहीं। जो उपयोगी सामग्री और ऐतिहासिक प्रमाण आपकी पुस्तक में हैं, वह श्री घोषाल की पुस्तक में नहीं दिखते। **जैनी रुपया बरबाद करना जानते हैं–ठोस काम नहीं देखते।**" उपरान्त वह मुझे बराबर जैनेतर शास्त्रों के उद्धरण प्रकाशनार्थ भेजते रहे–शारह आमसे हर मज़हब के जुलूस निकालने की कानूनी नज़ीरें भी उन्होंने भेजीं, जो 'वीर' में बराबर छपती रहीं। उसी समय महात्मा गांधीजी को भी उन्होंने इस प्रसंग में कई पत्र लिखे। एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि –

"I don't know, if I shall ever succeed in this life in gaining my ambition, but it is my ambition one day to **become a Digambara saint.** I wonder, what you will do to me in the Swarajya, if it shall come by that time?"

इससे स्पष्ट है कि बैरिस्टर साहब दिगम्बरत्व को निर्वाण पाने के लिए कितना आवश्यक मानते थे। उनकी यह कामना थी कि वह भी कभी दिगम्बर मुनि हों। कहना न होगा, महात्मा गांधी ने अन्ततः इस विषय में अपना स्पष्टीकरण प्रकाशित कर दिया था। **बैरिस्टर साहब मुनिभक्त ही नहीं, मुनिधर्म के रक्षक भी थे।**

तीर्थ-रक्षक – तीर्थस्थान को वह पवित्र भूमि मानते थे—तीर्थ जैसे एकान्त निर्जन स्थान पर बड़े-बड़े मकानों को बनाकर उसकी शान्ति को नष्ट करना उनकी दृष्टि में तीर्थ-आसादना थी। उनका मत था, जो भी जिनेन्द्र भक्त है वह तीर्थवन्दना करने का अधिकारी है। उन्होंने प्रयत्न किया कि तीर्थो के मुकद्दमें जो दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में चल रहे हैं, आपस में तय हो जायें, किन्तु भवितव्य ऐसा न था। आखिर दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर से उन्होंने **निःशुल्क शिखरजी केस—अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ केस** आदि मुकद्दमों की पैरवी की—स्वतः **अपना खर्च करके प्रिवी कौंसिल में अपील की पैरवी करने गये।** उन्हीं की दलील को कि यह पवित्र तीर्थ किसी की निजी सम्पत्ति नहीं है—ये देवद्रव्य हैं, जिसपर प्रत्येक भक्त को वन्दना करने का अधिकार है, प्रिवी कौंसिल ने मान्य किया था।

उन्हें जैनियों की मुकद्दमेबाजी की मूढ़ता पर बड़ी चिढ़ थी। एक दफ़ा वह बोले, "भला देखो तो लाखों रुपया बरबाद किया जा रहा है। एक अजैन वकील और एक अजैन न्यायाधीश हमारे धर्म के मर्म को क्या समझेगा और वह कैसे धार्मिक निर्णय देगा? फिर भी जैनी सरकारी न्यायालयों में न्याय के लिए दौड़ते हैं।"

श्वेताम्बर सम्प्रदाय से मुकद्दमा लड़ते हुए भी वे उनके मित्र थे—हज़ारीबाग में श्वेताम्बरीय कोठी में जाते और श्वेताम्बरीय नेताओं से मिलते-जुलते और उठते-बैठते थे। इस घनिष्ठता ने स्व. लाला देवीसहाय जी के दिल में बैरिस्टर सा० के प्रति शङ्का पैदा कर दी थी; किन्तु बैरिस्टर सा० ने स्पष्ट कहा था कि **मेरा अहिंसाधर्म यह नहीं सिखाता कि मैं अपने विरोधियों से प्रेम न करूं।** यदि आपको कुछ डर हो तो मैं मुकद्दमे की पैरवी से अलहृदा हो सकता हूं।' ऐसे स्पष्टवादी तीर्थरक्षक थे वे!

बिहार सरकार से अनुबंध

जमींदारी उन्मूलन कानून के अनुसार पारसनाथ पर्वत बिहार सरकार में निहीत हो गया। श्वेताम्बरी मूर्तिपूजकों ने 1965 में बिहार सरकार से असत्य तथ्यों के आधार पर एक अनुबंध कर लिया जिसके अनुसार जंगल की आमदनी का 60 प्रतिशत मैनेजरी की उजरत उन्हें मिलना तय हुआ।

साहू शान्ति प्रसाद जैन को जैसे ही उक्त घटना का पता चला तो उन्होंने सरकार से अपने अधिकारों के रक्षा की पैरवी की। उन्होंने दिगम्बर जैन समाज का आह्वान किया और दिल्ली में समूचे देश से आए स्त्री-पुरुषों की एक रैली निकली। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को दिगम्बर जैन समाज

की ओर से अपने अधिकारों की रक्षार्थ एक ज्ञापन प्रेषित किया गया। फलस्वरूप बिहार सरकार ने दिगम्बरों के साथ भी एक अनुबंध किया जिसके अनुसार दिगम्बरों को अपनी टोंकों की रक्षा और पूजा प्रक्षाल का हक मिला।

तीर्थ क्षेत्र कमेटी के समर्पित अध्यक्ष

साहू अशोक कुमार जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के सन् 1990 में अध्यक्ष निर्वाचित हुए। दिगम्बर तीर्थों विशेषकर शिखरजी की दशा देखकर वह द्रवित हो गए। इसी बीच समर्पित कानूनविद डॉ. डी. के. जैन उनके सम्पर्क में आए। वह चाहते थे कि दिगम्बर व मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों का आपसी समझौता हो जाय ताकि लाखों रुपया वार्षिक मुकद्दमेबाजी में खर्च न होकर तीर्थों का विकास हो। जैन समाज की विश्व पटल पर पहचान बने। इसी भावना के अंतर्गत बिहार सरकार से सम्पर्क कर उन्होंने राज्य सरकार से एक अध्यादेश प्रस्तावित कराया जिसके अनुसार दोनों पक्षों के समान संख्या में सदस्य रहें और शिखरजी का विकास हो किन्तु मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों ने इसका विरोध कर रुकवा दिया।

मई 1994 को साहू अशोक कुमार जैन के आह्वान पर समूचे देश से लाखों की संख्या में एकत्र होकर दिगम्बर जैन समाज की दिल्ली में एक अभूतपूर्व विशाल रैली निकाली गई। यह एक ऐतिहासिक रैली थी। **इस रैली के फलस्वरूप दिगम्बर समाज में गज़ब की चेतना आई।** रैली ने एक ज्ञापन गृह मंत्रालय को प्रस्तुत किया किन्तु श्वेताम्बरी मूर्तिपूजक समाज के नेताओं की हठधर्मी के कारण अध्यादेश बिहार सरकार को वापिस करा दिया गया।

साहू अशोक कुमार जैन की प्रेरणा से डा. डी. के. जैन ने शिखरजी मुकद्दमे की बारिकी से छान-बीन आरंभ कर दी। एक लम्बे अर्से से लम्बित सभी मुकद्दमों को एक अदालत में एक ही आदेश से निर्णय के लिए स्वीकार कराया। पटना हाईकोर्ट की रांची बैंच में मुकद्दमें की सुनवाई आरंभ हुई। डॉ. डी. के. जैन की समर्पण भावना और सुप्रीम कोर्ट के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री आर. के. जैन की पैरवी से 1-7-99 को रांची हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति श्री पी. के. देव के निर्णय के अनुसार दिगम्बरों के अधिकारों की रक्षा हुई। इस सफलता में साहू श्री अशोक कुमार जैन के अथक प्रयासों और उनकी सूझ-बूझ की मुख्य भूमिका रही। वर्तमान में उक्त निर्णय के विरुद्ध श्वेताम्बरी मूर्तिपूजकों की अपील रांची हाईकोर्ट में डिवीजन बैंच के समक्ष विचाराधीन है।

इस लेख से एक बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गई है कि बाबू चम्पतराय जैन, बाबू अजितप्रसाद जैन व साहू अशोक कुमार जैन आदि सभी दिगम्बरी

नेता दोनों पक्षों में समझौते के पक्षधर रहे हैं।

रांची हाईकोर्ट में मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री सोमनाथ चटर्जी ने भी मुकद्दमें के निबटारे के लिए दोनों पक्षों में समझौते का प्रस्ताव किया था जिसे दिगम्बरों के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री आर. के. जैन ने स्वीकार कर लिया था किन्तु श्वेताम्बरी मूर्तिपूजकों ने अपने ही वकील के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। वर्तमान में रांची हाईकोर्ट की डिवीजन बैंच में सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन के अध्यक्ष दिगम्बरों के अधिवक्ता श्री आर. के. जैन ने पुनः एकता का प्रस्ताव किया जिसे श्वेताम्बरी पक्ष ने अस्वीकार कर दिया।

यह जैन समाज का दुर्भाग्य ही है कि मुकद्दमेबाजी में समय और धन दोनों का अपव्यय हो रहा है। आज भी मैं इसी विचार का हूं कि मुकद्दमेबाजी में व्यय होने वाली विपुल धनराशि को बचाकर यदि समाज के हित में खर्च किया जाय तो हमारी एक पहचान विश्व के पटल पर निश्चित रूप से उभरेगी और हमारे तीर्थों का विकास होगा।

सम्मेद शिखरजी आन्दोलन समिति के आह्वान पर आज समूचा दिगम्बर जैन समाज एक जुट हो गया है। हमें अपनी एकता कायम रखनी है। शिखरजी ही नहीं, हमारे अन्य कई तीर्थों पर विवाद चल रहे हैं। समय रहते यदि दिगम्बर समाज न चेता तो हम अपने तीर्थों से वंचित हो जायेंगे। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने पूर्वजों की तरह **भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, हीरा बाग सी. पी. टैंक मुम्बई-400004** के हाथ मज़बूत करें और नियमपूर्वक अपनी आय का कुछ अंश तीर्थों की रक्षार्थ कमेटी को दें। हर नगर-ग्राम की पंचायत इस पर विचार करे और स्थानीय समाज का सहयोग लिया जाय। हम अपनी एकता और समर्पण भावना से ही अपने तीर्थों की रक्षा में सक्षम होंगे। जो महानुभाव अधिक सहयोग की स्थिति में हैं वह स्वयं ही इस काम में अपना योगदान करें। शादी-विवाह, जन्मदिन व ग़मी आदि के अवसरों पर कमेटी को दान देना न भूलें। बूंद-बूंद जल से सागर बनता है। तीर्थक्षेत्र कमेटी मज़बूत होगी तो हमें सफलता अवश्य मिलेगी।

महासचिव, वीर सेवा मंदिर

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2
मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष—52 किरण—4 अक्टूबर-दिसम्बर 1999

सिद्ध-शिला

1. चेतने के क्षण

   कोई न हमारा

2. भट्टारक स्वरूप समझें
   —आचार्य विद्यासागर

3. खतरनाक मोड़ पर
   —डॉ. रमेश चन्द्र जैन

4. पश्चिम में सन्मति का समुचित समाहार
   —नन्दलाल जैन

5. दिगम्बरत्व के विषय में नाथूराम प्रेमी का लेख

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 3250522

सिद्ध-शिला?

अनादि अकृत्रिम सिद्धशिला के आकार के संबंध में एक लेख 18 फरवरी 1999 के जैनगजट में प्रकाशित हुआ था। उसके संबंध में हमसे सम्मति मांगी गई थी। वास्तव में जो विषय हमारी इन्द्रियों और ज्ञान के गोचर नहीं और वर्तमान पंचम काल में जब इस क्षेत्र से मोक्षमार्ग ही बन्द है तब हमें आचार्यों के कथन के विषय में वीरसेन स्वामी के इस कथन को प्रामाणिकता देनी चाहिए कि – **'एत्थ गोयमो पुच्छेयव्वो।'** हमें तो प्रसंगानुसार प्राचीनकाल से चले आए परंपरित आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट स्वरूप के विषय में तर्क-बुद्धि का आश्रय न लेकर आस्थागत मान्यता को मानना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि आचार्य समन्तभद्र जैसे आचार्यों ने भी सूक्ष्म-अन्तरित और दूरस्थ पदार्थो को सर्वज्ञ गम्य ही घोषित किया है। जब लोक की स्थिति अकृत्रिम है तो उसमें बदलाव कैसा?

सिद्धशिला के आकार में मतभेद को स्थान नहीं, क्योंकि शिला छत्राकार है और वह छत्र ऊर्ध्वमुख बताया गया है। प्रकाशित लेख में सभी आकृतियाँ अधोमुख हैं ⌒ और आगम की दृष्टि में चिन्तनीय है। अधोमुख आकृति ऊर्ध्वमुख हो तो ठीक है। लेख में उल्लिखित प्रमाणों में **'तिलोयपण्णति'** का प्रमाण उत्कट है, जिसमें **'उत्तान'** शब्द को ग्रहण किया गया है और अन्य प्रमाणों में **'हरिवंशपुराण'** का **'सोत्तानित'** शब्द, **'सिद्धान्तसार दीपक'** का **'उत्तान'** शब्द भी ऐसा ही संकेत (अर्थ) प्रकट करते हैं। वस्तुतः **'उत्तान'** का अर्थ ऊर्ध्वमुख है–(पाइयसद्दमहण्णव कोश) जो चन्द्राकार के साम्य ही है। कथन में भेद है, पर आकार में भेद नहीं।

एक तर्क यह भी दिया गया है कि चन्द्राकार की स्थिति में पंचमुष्टिलोच और बैठने की स्थिति नहीं घटती। पर सिद्धों का इन दोनों क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि वे तो अरूपी आकाश प्रदेशों में रहते हैं। शिला से उन्हें क्या प्रयोजन? साधारण शिला की आवश्यकता तो सांसारिकों की दृष्टि से है और सिद्ध-शिला नामकरण भी सिद्धों की अपेक्षा से ही पड़ा है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आजकल आगम से लेकर आचार तक सब कुछ बदलने की प्रक्रिया तेजी से चल रही है। **यदि ठोस आगमनिष्ठ विद्वानों के अभाव में पिच्छि-कमण्डलु का अर्थ गणधर मान्य हो जाय तब कोई क्या कर सकता है?** हमारी परम्परा तो गणधरानुसारिणी है। सुना है अनेक विद्वानों ने सिद्धशिला के अधोमुख ⌒ छत्राकार सदृश होने में अपनी सम्मत्तियाँ प्रकट की हैं।

हमें जिनेन्द्रवर्णी कोष और जयसेन प्रतिष्ठा पाठ आदि के उद्धरण भी प्रस्तुत किए गए हैं। जबकि उक्त प्रतिष्ठा पाठ में दीक्षाविधि का प्रसंग है और जिनेन्द्रवर्णी कोष के अनुसार भी पृ. : 334-335 में उत्तान का अर्थ ऊँधे छपा है, जबकि उसी के तीनलोक के नक्शे (पृ. 455) पर शिला का आकार ऊर्ध्वमुखी चन्द्राकार सदृश ही बनाया गया है। जो ऊर्ध्वमुख छत्र-साम्य है। संक्षेप में 'उत्तान' शब्द का अर्थ इस प्रकार मिलता है–

उत्तान – ऊर्ध्वमुखशयिते, ऊर्ध्वमुखे च – अभिधानराजेन्द्र कोष
ऊर्ध्वमुख – पाइयसद्दमहण्णब
ऊपर मुख करके सोया हुआ – विश्वलोचन कोष
तद्विपर्यये – उथला – गहरा नहीं – अमरकोष
पीठ के बल लेटा हुआ – संस्कृत हिन्दी कोष

इस प्रकार सिद्धशिला का आकार ◡ चन्द्राकार या ऊर्ध्वमुख छत्रसम ही मान्य ठहरता है। दोनों के आकार में कोई भेद नहीं है। कथन में लोक प्रसिद्धि के कारण चन्द्राकार कहा जाने लगा है। शास्त्रोल्लेख के अनुसार यह ऊर्ध्वमुख-छत्र जैसा ही है।

–पद्मचन्द्र शास्त्री

अनेकान्त

वर्ष ५२	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	अक्टूबर–दिसम्बर
किरण ४	वी.नि.सं. २५२६ वि.सं. २०५६	१९९९

कोई न हमारा

हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्योहारा।
धन संबंधी सब परिवारा, सो तन हमने जाना न्यारा।। 1।।

पुन्य उदय सुख का बढवारा, पाप उदय दुख होत अपारा।
पाप पुन्य दोऊ संसारा, मैं सब देखन जानन हारा।। 2।।

मैं तिहुँजग तिहुँकाल अकेला, पर संबंध हुआ बहु मैला।
थिति पूरी कर खिर-खिर जाई, मेरे हरष शोक कछु नाहीं।। 3।।

राग-भाव ते सज्जन मानै, द्वेष-भाव ते दुर्जन माने।
राग-दोष दोऊ मम नाहीं, 'द्यानत' मैं चेतन पद माहीं।। 4।।

चेतने के क्षण

पर्यावरण प्रदूषण ने हमारी संस्कृति पर भी प्रहार किया है। अध्यात्म के नाम पर चल रहे प्रदूषण ने महामारी का रूप धारण कर लिया है और स्वाध्याय के अभाव में साधारण श्रावक भ्रमित हो गया है। आत्मा को देखने की रट लगाने वाले किसी मुमुक्षु ने आगमानुसार मुनिव्रत धारण किया हो—हमारे सुनने में नहीं आया है। स्वकल्याण के बजाए पर को कोरा उपदेश देना न तो उसके हित में है और न ही समाज के।

आज कई पिच्छी-कमण्डलु धारी दिगम्बर साधु निजी मठ निर्माण में पूरी तरह संलग्न हैं। कई बार तो ऐसी घटनाएं भी सुनने में आती हैं कि शर्म का सिर भी शर्म से झुक जाय। ऐसे कठिन समय में आचार्यों का मार्गदर्शन अति आवश्यक है।

दिगम्बर साधु को भट्टारक पद पर आसीन कराना साधु के मुक्तिमार्ग में बाधक तो है ही, जिनशासन के विरुद्ध भी है। आचार्य विद्यासागरजी ने इस दिशा में पहल कर धर्म के स्वरूप की रक्षा के निमित्त समाज को सचेत किया है। यदि हम अब भी चिरनिद्रा से नहीं जागे तो यह तथाकथित शिथिलता और व्यामोह वीतरागी जिनमार्ग को सर्वथा प्रदूषित कर देगा और भविष्य में जिनमार्ग के अनुरूप आचरण करने वालों के प्रति भी अनास्था का वातावरण बन जायेगा।

एक समय वह था जब नग्न साधु के विचरण पर लगे प्रतिबंध को हटवाने के लिए बैरिस्टर चम्पतराय जैन ने कई वर्षों तक अथक प्रयत्न किया था। कहीं ऐसी स्थिति पुनः न आ जाय कि उन्हें पुनः आकर मुकद्दमा लड़ना पड़े।

"अनेकान्त" ने सदैव ही जिनशासन की रक्षार्थ अग्रसर रहकर समाज को चेताया है। आज हमें व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर अपनी संस्कृति के प्रदूषण रूपी नासूर को दूर करना होगा अन्यथा—

"हमारी दास्तां तक न होगी
दास्तानों में"

—संपादक

भट्टारक स्वरूप समझें

–आचार्य विद्यासागर

कार्तिक वदी अमावस्या के दिन चातुर्मास वर्षायोग का निष्ठापन किया जाता है जिस दिन वीर भगवान का निर्वाण हुआ था। वर्षायोग के समय में श्रमण अपनी चर्या को साधना के लिये बाँध लेते हैं। जैन-सिद्धांत और आचार-संहिता के अनुसार जैन श्रमण-साधक एक स्थान पर कहीं भी रुक नहीं सकते। जैन श्रावक साधु को रोकने की इच्छा तो करते हैं, लेकिन संतों ने इस आग्रह को स्वीकार नहीं किया। काल तथा परिस्थिति के अनुसार कितनी भी विकट परिस्थितियाँ आ जायें, किंतु एक स्थान पर रुक कर के मोह के कारण वे आश्रय नहीं ले सकते। वे साधु-श्रमण कहलाते हैं। श्रमण जिस दिन इस क्रिया को छोड़ देंगे, उस दिन धर्म के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह आ जायेगा। यह कार्य बिना मोह के संभव नहीं हो सकता। काल, मान, परिस्थिति अथवा राजकीय सत्ताओं के कारण पूर्व में कुछ ऐसा समय आ गया था और उस समय कुछ परिधियाँ बँध गयी थीं। कुछ प्रदेशों में विहार होता था, कुछ में नहीं हो पाता था। उन थपेड़ों को सहन करते हुए भी परंपरा अक्षुण्ण रूप से आज तक कायम है।

किसी-किसी क्षेत्र में अपवाद देखने को मिलते हैं, उसकी दशा किस ढंग से भयानक हुई है, वह समाज के सामने आज विद्यमान है? उसी का परिणाम है कि श्रमणों अर्थात् साधुओं के सामने विहार की एक समस्या आ गयी। इसी कारण भारत में एक प्रकार से भट्टारक परंपरा उद्भूत हो गयी। भट्टारक मठाधीश बन गये। कालांतर में श्रमणों ने एक स्थान पर रहते हुए भी वस्त्रों को अंगीकार कर लिया। श्रमण संस्कृति का उज्ज्वल साहित्य विद्यमान है, किंतु भट्टारकों की परंपरा के संबंध में कोई साहित्य अपने यहाँ उपलब्ध नहीं है। जो अपवाद मार्ग होता है उसके लिये कोई साहित्य की रचना नहीं की जाती

है। आज बड़े-बड़े विद्वान और सेठ, साहूकार भी इसका कड़वा घूँट पीते चले जा रहे हैं। उनके लिये हमारा विशेष रूप से निवेदन है यदि वे नेता (समाज के) जैन-समाज के दूषण को समाप्त करने के लिये इस कार्य में भाग लें और मिटाने के लिये संकल्प कर लें तो जैन-समाज का वे बड़ा काम कर देंगे।

समाज के नेता लोगों को अब इस ओर काम करना चाहिये। हमारे यहाँ श्रीमान् बहुत हैं, लेकिन स्वाध्यायशील नहीं हैं। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा है, महासमिति हैं और अन्य संस्थाएँ भी हैं। ये हमारे सामने समस्या लेकर तो आ जाते हैं किन्तु जब हम शास्त्रोक्त पद्धति से कहते हैं तो उसके लिये आनाकानी कर देते हैं। एक समय ऐसा आ सकता है, जब इन्हें बहुत पश्चाताप करना पड़ेगा। इस संबंध में एकान्त में भी कहा, सुना तो, लेकिन इन लोगों ने इस बात को (हमारी बात को) स्वीकारा नहीं। या तो बात सुन ली या कुछ सामाजिक समस्याओं का बहाना कर आनाकानी कर दी। आज समाज के सामने मैं संदेह का कारण बन चुका हूँ। आप क्यों नहीं बोलते हैं? हमारे पास खुले पत्र आते हैं : 'क्यों महाराज ! आप इस बारे में बोलते क्यों नहीं हैं ? संभव है आप ख्याति, पूजा के चक्कर में हैं।' अनेक ऐसे श्रीमान् (समाज प्रमुख) जानते हुए भी इस दूषण को दूर करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। भट्टारकों की इस प्रकार की परंपरा आगामोक्त अनुसार नहीं है। जैन-साहित्य में इस चर्या के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। उस चर्या का बड़े-बड़े सेठ, साहूकार आँख मीचकर समर्थन कर रहे हैं। उनके कारण महान् कुंदकुंद-साहित्य को एक प्रकार से धक्का लग रहा है। आचार्य शांतिसागरजी महाराज, आचार्य समंतभद्र महाराज तथा और भी अनेक आचार्य हुए हैं। उन्होंने भी इस परंपरा को आगमोक्त नहीं माना। किंतु कई सेठ, साहूकारों ने इसे आगमोक्त कहते हुए इसका समर्थन किया है। इस (भट्टारक) परंपरा को निश्चित रूप से बंद कर देना चाहिये। समाज की निष्क्रियता का परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान में उत्तर भारत में मुनियों को भट्टारक परंपरा बनाने और उसे विशेष रूप से प्रोत्साहित करने का कार्य किया जा रहा है। मेरे सामने यह समस्या आयी तो मैंने कहा इसका समर्थन करने वाले कौन हैं ? तब पता चला दक्षिण के भट्टारकों ने दिगम्बर मुनि महाराज को भट्टारक बनाने का एक बीड़ा उठाया है। उनके समर्थक जो कोई भी

होंगे, जैन-शासन को जानने वाले नहीं होंगे। जो जैन-शासन को जानते हैं उन्हें चाहिये कि वे इस कदम को वापस ले लें। यदि ऐसा नहीं होता है, और कदम पीछे नहीं लिया जाता है तो भयानक स्थिति होगी। यहाँ पर केवल एक बार भोजन करने मात्र से श्रमण परंपरा निश्चित नहीं की जा सकती। ध्यान रखो, जो व्यक्ति परिग्रह का समर्थन करेगा और परिग्रह, आरंभ का समर्थन करेगा, जैन-शासन में उसे श्रमण कहने/कहलाने का अधिकार नहीं है। जो मठाधीश होकर के बैठ रहे हैं, वे कभी भी जैन शासन के प्रभावक नहीं माने जावेंगे।

भट्टारक परंपरा ने प्राचीन समय में बहुत काम किया हो, तो मैं मानता हूँ, वह कार्य उस समय रक्षा के लिये ठीक था। पर वह एक परम्परा, पंथ, मार्ग नहीं बन सकता। उसे एक आदर्श नहीं माना जा सकता। 2500 वाँ निर्वाण महोत्सव मनाया जा रहा था। उस समय मैं अजमेर में था। तब एक व्यक्ति ने आकर कहा—'महाराज ! विदेश में भी कुछ लोगों को, श्रमणों को जाना चाहिये। ताकि वहॉ के लोग भी श्रमण-परंपरा से अवगत हों।' मैंने कहा हमारे पीछे एक चर्या है। इस चर्या को आदर्श मानकर हम यत्र-तत्र विचरण करते हैं। आगम में कहा है—जहाँ पर श्रावक नहीं हैं। जहाँ पर उपसर्ग होते हों, कषाय उद्भूत होती हो—वहॉ पर न जायें। वीतरागता की उपासना करने में जहाँ पर श्रावक तल्लीन हो, वहाँ पर जायें। उस समय कई भट्टारक विदेश यात्रा करके आये। वहाँ उनसे पूछा गया था कि 'जैन साधु तो दिगंबर होते हैं और आप तो वस्त्र में हैं।' प्रश्न का उत्तर दिया गया—'हम श्रमण-परंपरा, के अंतिम साधु हैं।' अंतिम साधु के उत्तर पर मैंने कहा, अंतिम साधु कौन होता है ? इसका भी कोई हल होना चाहिये। आचार्य कुंदकुंद के अनुसार तीन ही लिंग हैं—पहला श्रमण- दिगम्बर मुनि रूप, दूसरा श्रावक रूप ऐलक-क्षुल्लक, जिन्हें श्रावक शिरोमणी भी कह सकते हैं और तीसरा स्त्री समाज में आर्यिका का, उसी में श्राविका रूप क्षुल्लिका को भी रख सकते हैं। दिगंबर जैन साहित्य में ये ही तीन लिंग हैं। क्षुल्लक-पद और वर्तमान में भट्टारक का पद एक समान (इक्कवल) माना जा रहा है, ये गलत है। क्षुल्लक एक स्थान पर रुक नहीं सकता है। वह मुनि के पास रहा करता है। मुनि महाराज, आचार्य महाराज जैसा कहते हैं उसके अनुसार वह अपनी वृत्ति रखता है। काल मान की अपेक्षा से कहीं एकादि रह गया हो, तो यह बात अलग

है। उसे विधान नहीं माना जा सकता। आज के भट्टारक न मुनि हैं, न ऐलक हैं, न क्षुल्लक हैं। क्योंकि क्षुल्लक-पद के योग्य ग्यारह प्रतिमाएँ निर्धारित की गई हैं। इन भट्टारकों के पास कौन-सी प्रतिमाएँ हैं, यह प्रश्न हमने उठाया ? कुछ भी जवाब नहीं दिया गया। कुछ लोग कहते हैं कि आज भट्टारकों की बड़ी आवश्यकता है। हमने कहा 1008 भट्टारक बना लो। लेकिन उसका लिंग निर्धारित कर दो। वह आगम के अनुकूल होना चाहिये। नहीं तो उनके साथ समाचार करना, गलत व्यवहार हो जायेगा। यदि क्षुल्लक के रूप में व्यवहार होता है तो मार्ग दूषित हो जायेगा। समाज में विप्लव हो सकता है। हमारे पास संघ बहुत बड़ा है। उनके साथ कैसा व्यवहार समाचार किया जाये ? यदि ऐसा नहीं करते हैं तो जैनेतर लोग देखकर के हँसेंगे। एक मुद्रा है, एक आदर्श है, एक पद होता है, इसका निर्धारण करो। इस बात को किसी ने भी आज तक नहीं सुना। बड़ी-बड़ी, लम्बी-चौड़ी बातें तो होती हैं, लेकिन आगम के आधार पर नहीं होती हैं। महाराजों के पास बैठक रखी जाती है। अनेक प्रकार की बातें समाज में की जाती हैं। किंतु इस बारे में सोचा नहीं गया।

तीन प्रमुख शीर्ष संस्थाएँ समाज की हैं। महासभा, महासमिति और परिषद्। यदि इस ओर इन्होंने नहीं देखा तो हम अपनी बात जनता अर्थात् (समाज) के समाने रख सकते हैं। तब एकमात्र (भारतवर्षीय नाम की) आप लोगों की उपाधि समाप्त हो जायेगी, ध्यान रखना। इसलिये कहीं भी एक मीटिंग रख ली और स्वयं को भारतवर्षीय कहने लगे। भारतवर्षीय तो समाज है। आप समाज से कोई संस्था खड़ी करना चाहते हैं, तो वह आगम के लिये सम्मत-प्रतिबद्ध होना चाहिये। आगम के बारे में कटिबद्ध होकर काम होना चाहिये। जैन-दर्शन से विपरीत चलेंगे, तो कौन इसका निर्वाह करेगा ? एकता के बल पर देव, शास्त्र गुरु रक्षा के लिए तीनों समितियों को काम करना चाहिये। इनकी आपस में जितनी वैमनस्यताएँ हैं, उन्हें आपस अन्दर ही सीमित रखना चाहिये। उन्हें अखबार इत्यादि तक नहीं ले जाना चाहिये। दिगम्बरत्व तब ही सुरक्षित रह सकता है, अन्यथा सुरक्षित नहीं रह सकता। इसका कोई जवाब नहीं दिया गया। मठाधीश होने वाला क्षुल्लक नहीं होता। इन भट्टारकों से हमारा पूछना है कि क्या वे अपने आप को क्षुल्लक मानते हैं ? नहीं मानते

हैं, तो क्या ऐलक मानते हैं ? नहीं मान सकते हैं, तो क्या मुनि मानते हैं ? नहीं मान सकते; तो फिर पिच्छी हाथ में क्यों है ?

यदि भट्टारक अपने आप को क्षुल्लक मानते हैं तो उन्हें आरंभ एवं परिग्रह की अनुमति नहीं दी जा सकती तथा वे मठ में भी नहीं रह सकते। उन्हें ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक है। उन्हें आरंभ-सारंभ की तथा उद्दिष्ट भोजन की अनुमति नहीं है। महान दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में क्षुल्लक पद का स्वरूप उल्लेखित किया है। वह मात्र चादर एवं लंगोटी ही अपने पास रखता है, पर वे भी फनाफन नहीं रहते। जो उद्दिष्ट भोजन ग्रहण करता हो अथवा मठाधीश हो वह क्षुल्लक नहीं है। ऐसी दशा में वह ऐलक या मुनि भी नहीं है तो फिर हाथ में पिच्छिका क्यों रखते हैं ? जिन लिंग के संबंध में मूलाचार आदि अधिकांश ग्रंथ हमने पढ़े हैं। पिच्छी को श्रमण का लिंग, चिन्ह माना गया है। इस चिन्ह को लेकर स्वयं को क्षुल्लक रूप कह कर के यद्वा-तद्वा प्रचार करना जैन-दर्शन के लिये मान्य नहीं है। इस सब बातों को आप वर्षो से कैसे सुन रहे हैं ? क्या कर रहे हैं ? यह हमें समझ में नहीं आता। ड्रेस और एड्रेस मुख्य माने जाते हैं। शास्त्र में भी इसी प्रकार से मिलावट आने लग जाये, तो दिगम्बरत्व को कैसे सुरक्षित रखेंगे ? केवल जय बोलने मात्र से दिगम्बरत्व सुरक्षित नहीं रहने वाला है। आपस के मनमुटाव को बंद करके सोचना चाहिये। यदि जैन-समाज नहीं सोचता है तब हम कह सकते हैं कि आप मेरे पास पत्र मत भेजा करो। पत्र भेजकर आप हमें अगुआ करना चाहते हैं। आप हमारी बात सुनते तक नहीं हैं। यह आप लोगो के लिये उचित नहीं लगता। अभी-अभी यहां भी कई पत्र आये थे। एक भट्टारक ने दिगम्वर मुनि को भट्टारक बनाने का संकल्प लिया था। जब मालूम पड़ा तो बात वापस ले ली। क्यों ली बताओ ? क्यों पीछे ली ? क्या एक भट्टारक मुनि महाराज को भट्टारक बना सकता है ? क्या एक वस्त्रधारी भट्टारक सीधे-सीधे क्षुल्लक वना सकता है ? दीक्षा दे सकता है ? क्या एक भट्टारक किसी को मुनि बनाकर के उसको क्षुल्लक बना सकता है ? यह ऐसे प्रश्न हैं, जिनके उत्तर किसी के पास नहीं हैं। न श्रीमानूजी के पास, न धीमानूजी के पास। श्रीमानूजी के पास उत्तर तो है लेकिन वह डरते हैं। इनके कोई भी शास्त्रोक्त उत्तर नहीं मिलते। यदि कोई विद्वान् शास्त्रोक्त लिख भी देता

है तो उसका मुख बंद कर दिया जाता है। हमें भी ऐसा कह दें कि आप इसके बारे में बोलिये नहीं। पर हम अवश्य बोलेंगे। आपको इस बारे में निर्णय करना होगा। यदि निर्णय नहीं किया जाता है तो हम समाज के सामने आव्हान कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार की परम्परा की कोई आवश्यकता नहीं है ?

कुछ समय के लिये क्षेत्रों इत्यादि के लिये व्यवस्था कर दी गई है। लेकिन पिच्छी के साथ कोई ट्रस्टी बन सकता है क्या ? क्या पिच्छी के साथ ताला-कुंजी ले सकता है ? क्या पिच्छी के साथ बैंक बेलेंस रख सकता है ? क्या पिच्छी के साथ कोई खेती-बाड़ी कर सकता है ? आप लोगों को श्रमण-परंपरा के प्रति क्या कोई आदर नहीं है ? आप लोगों को स्वाभिमान नहीं है ? क्या विद्वान् इस बात को नहीं जानते ? इस बात को उठाने से दबाया क्यों जाता है ? (इनडायरेक्ट) अप्रत्यक्ष क्यों जवाब दिया जाता है ?

जिस समय हमारे पास भट्टारकजी (भट्टारक चारुकीर्ति, श्रवणबेलगोला) आये थे, यह बात मढ़ियाजी (जबलपुर) की है, और उनके सम्मान करने की बात आ गयी। हमारे सान्निध्य की बात करके भट्टारकजी के सम्मान की बात करते हैं तो मैं भट्टारक की व्याख्या करके रहूँगा और हमने भट्टारक की व्याख्या की है। अभी तक इस बात को आठ-दस साल हो गये, किसी भट्टारक ने गौर नहीं किया। क्योंकि उसके पीछे समर्थन है। आप समर्थन करना चाहते हैं तो करिये, लेकिन मार्ग को दूषित न करिये। अब हम इस बात को सहन नहीं कर सकते। कई व्यक्तियों ने इनडायरेक्ट बात की, जो गलत बात है।

गृहस्थ की अलग और श्रमण की परंपरा अलग होती है। गृहस्थ की एक मर्यादा होती है। क्षेत्रों का रख-रखाव, उन्नति, सुरक्षा आदि आवश्यक होते हैं। इस बात को तो हम मान्य करते हैं। ऐसा आदर्श कार्य कोई भट्टारक करे तो उसे गृहस्थाचार्य बोला जा सकता है। उन्हें एक उपाधि दीजिये। उनके हाथ में पिच्छी अवैध है। बल्कि यूँ कहिये दिगम्बर समाज के लिये इसमें बहुत नीचा देखना पड़ता है। हम उसको कौन-सा पद मानेंगे ? उनका पूरा का पूरा कार्य क्षुल्लकवत् चल रहा है। यह ठीक नहीं है। आप आगम को आदर दे दो। आपको सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। भट्टारक लोग पढ़े लिखे हैं। कुछ डबल एम. ए. हैं। सब कुछ जानते हैं। वर्तमान में पाँच-पाँच, छः-छः भट्टारकों को दीक्षा दे दी गई है और

इस सबका समर्थन किया गया है। लेकिन मैं इसका समर्थन नहीं करने वाला हूँ। और कोई समर्थन करना चाहे तो उनकी बात नहीं कह सकता। इसलिये कि यह एक प्रकार से जैन-साहित्य, दर्शन, आचार-संहिता के लिये महादोष है। शैथिल्य अलग वस्तु और मार्ग-दूषण अलग वस्तु हैं। शैथिल्य किसी से हो सकता है, जो उस व्यक्ति तक सीमित रहता है। शैथिल्य विधान नहीं हो सकता। आज भट्टारक पद को वैधानिक रूप दिया जा रहा है और उसमें बहुत बड़े-बड़े सच्चे देव, शास्त्र एवं गुरु को मानने वाले ही उनकी रक्षा करने में जो लगे हैं, उनको सोचना चाहिये। शास्त्र का मार्ग तो उन्होंने बिल्कुल ही परिवर्तित कर दिया है। विद्वानों के बारे में मैं ज्यादा तो नहीं कह सकता। श्रीमानों के लिये भी मैं इतना कह सकता हूँ कि उनको सोचना चाहिये। मुझे आगे करके वह क्या करना चाहते हैं ? मार्ग तो मार्ग माना जाता है। यदि शैथिल्य का कोप हो जाता है तो मार्ग दूषित हो जायेगा। उसे वैधानिक रूप नहीं दिया जा सकता। फिर उनका लिंग क्या हुआ ? उनकी व्यवस्था क्या होगी ? इन बातों को आप लोग जहाँ-कहीं भी जावेंगी, अवश्य रखेंगे। हम अपनी तरफ से इस बारे में अवश्य सोचेंगे और उसे मूर्त रूप देने का विचार करेंगे।

अभी-अभी पढ़ने में आया है कि, दक्षिण भारत में भट्टारक परंपरा की आवश्यकता है, तो पिच्छी रखकर के (अलग करके) आप भट्टारक परंपरा चला सकते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है। इसे आदर्श के रूप में आप चला सकते हैं। लेकिन भट्टारकों को पिच्छी की आवश्यकता है, तो उनके लिए (भट्टारकों) ग्यारह प्रतिमा का पालन करना होगा। यह ध्यान रखना जितने भी व्यक्तियों को आपने दीक्षा दी है, दिलवायी है उनको भी ठीक, वैधानिक रूप में नहीं माना जा सकता। एक भट्टारक जो किसी पद पर नहीं है उसे पिच्छी दिलाने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। पिच्छी श्रमण के पास यानी तीन लिंग के अलावा किसी के पास नहीं रह सकती। यह आचार्य कुंदकुंद भगवान की घोषणा 2000 वर्ष पूर्व की है और आज उसकी आनाकानी की जा रही हैं अन्य कोई व्यक्ति पूछता है, इसका रूप क्या है ? आप लोगों को बताना होगा। यह भी आपको ज्ञात नही है और आप लम्बी-चौड़ी बातें कर रहे हैं। समयसार की तो आप वाचना के लिये तैयार हैं किंतु यह ज्ञात नहीं है कि क्षुल्लक कौन होता है ? और भट्टारक का रूप

क्या होता है ? अरहंत परमेष्ठी को भी भट्टारक कहा गया है। बड़े-बड़े आचार्यों को भी भट्टारक कहा गया है। भट्टारक पद इस ढंग से नहीं मिलता। वे श्रमणों में श्रमणोत्तम, प्रभावक होते थे। अन्य व्यक्तियों पर उनके वचनों का प्रभाव रहता थां, उज्ज्वल चरित्र रहता था। उनके लिये भट्टारक उपाधि 'भट्टान पण्डितान् स्याद्वाद परीक्षणार्थं आरयति, प्रेरयति इति स भट्टारकः' होती थी। ऐसे मुनि महाराज की भट्टारक संज्ञा होती थी जो स्याद्वाद के माध्यम ये अनेकांत के माध्यम से, वस्तु तत्व को समझाने में माहिर रहते थे, उनको भट्टारक की उपाधि दी जाती थी। वे विद्वानों को चुनौती देते थे। जो जिनत्व स्वीकारता नहीं था, जिनत्व में कमी मानता था, उन्हें वह प्रेरित करते थे। कहते थे हमारे से शास्त्रार्थ कर लीजिये। अनेकांत क्या है ? स्याद्वाद क्या है ? श्रमणतत्व क्या है ? उसे सुनना और समझना हो, तो आईये मेरे सामने। वे इस प्रकार की खुली चुनौती देने वाले होते थे। वे वस्त्रधारी भट्टारक नहीं हुआ करते थे। लेकिन आज मुनियों के बराबर पद देकर उनको बहुमान दिया जा रहा है। ऐसा अंधविश्वास समाज में समझ नहीं आता। थोड़ा बहुत शास्त्र को अवश्य ही पढ़ना चाहिये। फिर बाद में इस प्रकार के समर्थन में खड़े होना चाहिये। यदि नहीं है, ऐसा ही करना है; तो हमारे पास नहीं आवें। इसका क्या इलाज है ? इसका क्या जवाब है ? सब जवाब तो आगम में विद्यमान हैं। आज महावीर भगवान के निर्वाण को हुए 2500 वर्ष पूर्ण हो गये हैं। आज तक जो ये श्रमण परंपरा चली, यह उसी वीतराग परंपरा का प्रतीक है।

हम लोगों के लिये जो मार्ग मिला है वह भावपरक मार्ग है। जो किंचित् मात्र भी परिग्रह रखता है, वहां पर वीतरागता तीन काल में संभव नहीं है। महान् आचार्य कुंदकुंद की घोषणा है कि वस्त्रधारी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। वस्त्रधारी जो घर में तीर्थंकर जैसे भी रहते हैं, उनको मुक्ति नहीं मिलती। घर बसाने वालों को मुक्ति नहीं मिल सकती। घर बसाकर के छोड़ दें तो मुक्ति मिल जायेगी। यदि अपने नाम से कोई भी तिलतुष मात्र भी परिग्रह रखा तो मुक्ति नहीं मिल सकती। ऑनरशिप, स्वामीपन रखने से मुक्ति नहीं मिलेगी। आज तो सारा का सारा स्वामीपना रखा जा रहा है। इसकी यदि आवश्यकता है, तो आप रख लीजिये क्षेत्रों का जीर्णोद्धार, रक्षा, नवनिर्माण आदि

के लिये आवश्यकता होती है। परन्तु यह सब पिच्छी के साथ न करिये।

कोई आशीर्वाद, निर्देशन माँगता हो तो आप उन्हें उपदेश दे सकते हैं किंतु एक स्थान पर बैठकर मठाधीश बनना जैन-धर्म के लिये उचित नहीं है। जैन समाज प्राचीनकाल से तन, मन एवं धन से क्षेत्र आदि की रक्षा करती आयी है। यदि ऐसा नहीं करते तो यह श्रेय आप पर ही आवेगा की आपने सुरक्षा की अथवा बाधा पैदा की ? प्रत्येक व्यक्ति को इसका समर्थन करने पर श्रेय आवेगा। लॉ पढ़ने से वह वकील बन सकता है। हाईकोर्ट आदि में वकालत कर सकता है परन्तु वह लॉ की किताब नहीं लिख सकता। जो किताबें लिखी हैं, उन्हें ही पढ़कर वकालत कर सकता है। किंतु उनमें संशोधन नहीं कर सकता। जज ही कर सकता है। वह जज वकील से कहते हैं कि तुम्हें मात्र वकालत करनी है, जजमेंट नहीं देना। आज तो हर व्यक्ति अपनी परंपरा बनाने में, ग्रंथ लिखने में लगा हुआ है। कुंदकुंद की बात करते, वह तो पर है। कुंदकुंद आचार्य ने तीन ही लिंग कहे हैं, उन्हें सुरक्षित रखना तो धर्म की रक्षा करना है, नहीं तो आपके कारण धर्म सुरक्षित नहीं रह पायेगा। इस पर समाज के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति, मूर्धन्य विद्वान तथा श्रीमान् मिलकर अवश्य ही विचार करेंगे। इस संबंध में प्रमाद करते हैं, तो मैं समझूँगा ये कोरी बातें हैं। बात को मूर्त रूप देना नही चाहते हैं। अब मैं इन बातों को सुनना नहीं चाहता। ये कुछ कहते नहीं, तो सन्देह का चिन्ह बन जाता हैं अब तो कई लोग मुझ पर संदेह करने लगे हैं कि महाराज ! बताओ आप किसके समर्थक हो ? इसलिये मैं कहना चाहूँगा कि, मेरा समर्थन तो केवल देव, शास्त्र, गुरु के लिये ही रहेगा। मुझे कोई श्रीमान् माने या ना माने, कोई मतलब नहीं। जिनवाणी की सेवा करूँगा तथा जो प्रतिज्ञा आचार्य गुरुवर ज्ञानसागर जी महाराज से ली है, उस प्रतिज्ञा को जब तक इस शरीर में, घट में प्राण रहेंगे तब तक वीर प्रभु को याद करते हुए उसका निर्वाह करने के लिये मैं संकल्पित हूँ। भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि मेरा यह संकल्प जब तक प्राण रहे, जब तक जीवित रहूँ, तब तक इस भोली जनता, जैन समाज को बता सकूँ। जैन-धर्म में विकार सहनीय नहीं है। जिस प्रकार शरीर में रोग सहनीय नहीं होता, उसी प्रकार धर्म-मार्ग में दूषण इस आत्मा को सहन नहीं होता।

लालनात् बहवो दोषाः, ताडनात् बहवो गुणाः।
तस्मात् पुत्रं च शिष्यं च, ताडयेद् न तु लालयेत।।

यह नीति है। इसके अनुसार पुत्र तथा शिष्यों को लालित करते या अधिक लाड़-प्यार करते हैं तो हम ही उसे दोषों का भण्डार बना रहे हैं। यदि उन्हें ताड़ते हैं तो अवगुण दूर होंगे तथा वे गुणी बनेंगे।

हमने जो दिशा ली है, उसी दिशा में जिस ओर महावीर भगवान के कदम उठे हैं, उसी ओर हम अपने कदम बढ़ाना चाहेंगे। यही बात दूसरों के लिये भी संकल्प पूर्वक कहना चाहते हैं। आप यदि अपने को महावीर भगवान की संतान या उनका समर्थक मानते हो, तो ध्यान रखना अभी इस गाड़ी को बहुत आगे बढ़ाना है। यदि आप आगे नहीं बढ़ाते हैं तो आपकी आने वाली पीढ़ी कहेगी कि हमारे बाप-दादाओं ने हमारे लिये धर्म-कर्म नहीं सिखाया। यदि सिखाया है, तो भट्टारकों को ही मुनि मानो, यह बात गलत हो जायेगी। आज हमारे सामने जो युवक गुरुकुल मढ़ियाजी (जबलपुर) में पढ़कर के गये हैं, हमसे आशीर्वाद प्राप्त किया है, उन चारों को भट्टारक बनाया गया है। हमें इस बात का खेद है कि हमने भट्टारक बनाने के लिये आशीर्वाद नहीं दिया था। समाज का पैसा लगाकर, समय निकालकर प्रोत्साहित करके उन्हें बनाया। आज उनको भट्टारक बनाकर प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। यह सही परंपरा नहीं है। विद्वानों को भी सोचना चाहिये कि भट्टारक बनाने के लिये इन लोगों को नहीं पढ़ाया था। जैन-धर्म की प्रभावना के लिये पढ़ाया गया है। यह बात इसलिये आज मैं कह रहा हूँ कि आज चातुर्मास का समापन हो चुका है। अब हमारा कहीं भी विहार हो सकता है। आप इन्दौर में ही रहेंगे और हमें इन्दौर में रहना है ही नहीं। परिग्रह के साथ जो धर्म की प्रभावना करना चाहते हैं, वे घर में रह करके करें, किंतु हाथ में पिच्छी लेकर और परिग्रह रखकर के चलें, यह उसकी (पिच्छी की) शोभा नहीं है। मयूर-पिच्छी की कीमत, मूल्य, गरिमा बनाये रखने के लिये मैं आप लोगों से कह रहा हूँ।

प्रेषक :
निर्मलकुमार पाटोदी,
10, यशवंत कॉलोनी, इन्दौर-(म.प्र.) 452003

साधु संस्था–खतरनाक मोड़ पर

–डॉ. रमेश चन्द्र जैन

एक पत्र के 8 जुलाई 1999 के अंक में बालाचार्य उपाधि से विभूषित एक दिगम्बर जैन मुनि के सम्बन्ध में दुर्भाग्य से यह पढ़ने को मिला कि चातुर्मास उपरान्त आगामी नवम्बर माह में उनका (भट्टारक पद पर) पट्टाभिषेक समारोह आयोजित होगा। एक पञ्चकल्याणक महोत्सव में तपकल्याणक के दिन श्रवणबेलगोला के पीठाधीश भट्टारक स्वामी श्री चारुकीर्ति जी के सन्देशानुसार कोल्हापुर के भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन जी, चेन्नई के भट्टारक श्री भुवनकीर्ति जी तथा ज्वालामालिनी के भट्टारक श्री ललितकीर्ति जी की उपस्थिति में उपाधि से विभूषित पीठाधीश स्वस्ति श्री भट्टारक स्वामी बालाचार्य जी को डोली में बैठाकर नगर में भव्य शोभायात्रा निकाली जिसमें तीनों भट्टारक जी उपस्थित रहे। बीस हजार श्रद्धालुओं की अपार भीड़ देखते ही बनती थी, जगह-जगह जय-जयकार व नाच-गान इत्यादि।

इस समाचार से पूर्व 'धर्ममंगल' में एक दो मुनियों के विषय में कुछ और बातें पढ़ने को मिलीं जो अकल्पनीय और जैन साधु के विषय में अश्रुतपूर्व थीं। समझ में नहीं आता, हमारी साधु संस्था को आज हो क्या गया है? कहां हमने आचार्य भगवन्त कुन्दकुन्द के ग्रन्थ से सुना था–

उवयरणं जिणमग्गे जहजाहरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं य णिद्दिट्ठं।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में पीछी और कमण्डलु के अतिरिक्त ये उपकरण कहे गए हैं – 1. यथाजात रूप (जन्मजात बालक के समान नग्न रूप), 2. गुरु के वचन, 3. विनय और 4. सूत्रों का अध्ययन।

आज के कुछ मुनियों को इन उपकरणों से सन्तोष नहीं। विश्व में शायद

कोई ऐसा धर्म हो जो अपने साधुओं को इतना बहुमान और आदर देता हो, जितना दिगम्बर जैन धर्म का श्रद्धालु श्रावक अपने साधुओं को देता है। उसकी श्रद्धा के अतिरेक का लाभ उठाकर आज कुछ साधु ऐसे भ्रष्ट मार्ग पर आ गए है। कि तन पर वस्त्र को छोड़कर आज उनके पास सब कुछ है। जाने के लिए कार, रहने के लिए ऐसे-ऐसे बंगले जिनके दर्शन उनकी 57 पीढ़ियों ने कभी नहीं किए थे, धनवान भक्त से बातचीत करने के लिए सेल्युलर फोन, देखने के लिए मॅहगे-मँहगे रंगीन टी.वी., खाने के लिए फ्रिज में जमाई हुई बढ़िया मलाई और कुल्फी तथा सुस्वादु भोजन, धन के नाम पर उनके या उनके भक्तों के नाम लाखों करोड़ों का बैंक बेलेन्स, बड़े-बड़े शहरों में खरीदी हुई बहुमंजिली बेशकीमती कोठियाँ, शरीर पर लगाने को मॅहगे-मँहगे तेल, गर्मियों में पंखे और कूलर तथा जाड़ों में हीटर इत्यादि तथा प्रतिदिन सैकड़ों नर-नारियों द्वार चरणवन्दना और जय-जयकार, बैंडवाजे, रथ, हाथी, घोड़े, नृत्य और संगीत इन सब ठाठकाटों को देखकर हीनपुण्य व्यक्ति का भी मन मचल उठता है—काश! हम भी ऐसे मुनि बन जाते।

मैं सोचता हूँ भगवान् ऋषभदेव, भगवान महावीर और शेष 22 तीर्थकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, उन्होंने अपने ज्ञानचक्षु से निश्चित रूप से यह देख लिया होगा कि 20वीं सदी के अन्त में, शिथिलायी युग में या धर्मपतन के काल में निश्चित रूप से ऐसी गिरावट आएगी कि उनके तीर्थ के कुछ वक्र जड़ अनुयायी उनके सिद्धान्तों और उनके द्वारा दी गई आचारगत शिक्षा से खिलवाड़ करेंगे। अतः उन्होंने 'मग्गो हि मोक्खमग्गो सेसा उममग्गया सव्वे' कहकर अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निर्ग्रथ लिंग (नग्नत्व) को ही एकमात्र साधुमार्ग घोषित किया था, अन्य सभी मार्गो को उन्मार्ग घोषित किया था। आज वीतरागी नग्न दिगम्बर मुद्रा का सरागी नग्न दिगम्बर मुनियों द्वारा खुलकर मजाक उड़ाया जा रहा है।

भगवान् महावीर के बाद जैनसंघ के लिए वह सबसे बड़े दुर्भाग्य का दिन आया था, जब बारह वर्षीय दुर्भिक्ष होने पर श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय उत्तर भारत के कुछ साधुओं ने आपत्ति से रक्षा करने के लिए वस्त्र पहिनना प्रारम्भ कर दिया था। एक बार कहीं से भी शिथिलाचार प्रवेश करे, फिर उसका जड़मूल से निकलना बहुत कठिन होता है। यही हालत उस समय हुई थी।

बारहवर्षीय दुर्भिक्ष तो समाप्त हो गया, किन्तु जिन साधुओं ने वस्त्र स्वीकार कर लिया था, उनमें से कुछ साधुओं ने पुनः वस्त्र का परित्याग करना स्वीकार नहीं किया और स्थूलभद्र के नेतृत्त्व में अपने स्वतन्त्र संगठन की घोषणा कर दी। धीरे-धीरे यह संगठन श्वेताम्बर परम्परा के रूप में उदय में आया, जिसके कारण अविच्छिन्न जैनसंघ छिन्न-भिन्न हो गया और आज स्थिति यह हो गयी है कि हर साधु अपना स्वतन्त्र गण, गच्छ, टोला आदि लिए घूम रहा है, फलस्वरूप बेचारे श्रावक भी विभाजित हो गए हैं।

दिगम्बर समाज में मुसलमानी शासनकाल में पुनः एक मोड़ आया, जब राजनैतिक कारणों से नग्न मुनि का विचरण करना बन्द-सा हो गया। ऐसी स्थिति में धर्म रक्षार्थ श्रावकों के बीच नग्न रहकर कुछ साधु बाहर निकलते समय वस्त्र का उपयोग करने लगे। ऐसे साधु भट्टारक कहलाए। भट्टारक शब्द बड़ा पवित्र है। उत्तरपुराण में भट्टारक शब्द का प्रयोग भगवान पार्श्वनाथ के लिए हुआ है। कई जगह अर्हत भगवान् को परम भट्टारक कहा गया है। हमारे पुष्पदन्त और भूतबलि तथा गुणधर जैसे महान् आचार्य 'भडारया' भट्टारक कहलाते थे, किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि शब्द अपनी अर्थवत्ता को खोकर हीन अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। मुसलमानी शासन में इस पवित्र भट्टारक शब्द की भी दुर्गति हुई। प्रारम्भ में कुछ साधु नग्न एक स्थान पर रहकर धर्मायतनों की देख-रेख करने लगे। मठों की विपुलसम्पत्ति का अधिकारी हो जाने के कारण धीरे-धीरे ये पालकी में विचरण करने लगे और राजा-महाराजाओं के समान इनके ऊपर छत्र ताने-जाने लगे और चँवर डुलाए जाने लगे। बाद में इन्होंने धीरे-धीरे वस्त्र भी स्वीकार कर लिया। सुना है कि आज भी भट्टारकों की दीक्षा नग्न ही होती है, किन्तु नग्न वेषधारी भट्टारकों से कुछ श्रावक निवेदन करते हैं कि कालदोष के कारण अब साधु का नग्न रहना सम्भव नहीं रह गया है, अतः आप लंगोटी आदि धारण कर लीजिए। श्रावकों की प्रार्थना पर नग्न भट्टारक लंगोटी आदि धारण कर लेते हैं। प्रारम्भिक भट्टारक नग्न ही रहते थे, बाद में वस्त्र धारण की प्रथा शुरू हुई।

कालान्तर में ये भट्टारक विपुल सम्पत्तियों के मालिक बन गए। इन्होंने धार्मिक सम्पत्ति का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया। ये धर्म के ठेकेदार बन

गए। पूजा, विधान, अनुष्ठान आदि का सारा अधिकार इन्हीं के हाथों केन्द्रित हो गया। इनके शिकंजे में फँसकर जनता घुटन महसूस करने लगी, फलतः राजस्थान में विद्वत् वर्ग की ओर से इनका जोरदार विरोध हुआ। इस विरोध की आँधी ने पूरे उत्तर भारत को लपेट में ले लिया, फलस्वरूप पुरानी भट्टारक पीठें समाप्त हो गयीं। समाज के विरोध के कारण नए भट्टारक नहीं बन पाए। दक्षिण में अवश्य यह प्रथा कायम रही; क्योंकि वहाँ की राजनैतिक परिस्थितियाँ दूसरी थीं। इसमें भी कोई सन्देह की बात नहीं कि इन भट्टारकों ने आपत्ति काल में जैनधर्म और संस्कृति का बहुत बड़ा संरक्षण किया, किन्तु यह भी कटु सत्य है कि कुछ अधकचरे और अन्य धर्मों से आए भट्टारक नामधारियों ने जैन साहित्य में तरह-तरह की मिथ्या मान्यतायें भी घुसा दीं, जिनका समय-समय पर विरोध होता रहा, यह विरोध आज भी कायम है।

उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भट्टारक प्रथा दिगम्बर साधु के अवमूल्यन के फलस्वरूप उदय में आयी थी, किन्तु आज की परिस्थिति में जबकि साधु अपनी चर्या का निर्वाह अच्छी तरह से कर सकता है और कुछ मुनिसंघों में यह निर्दोष चर्या अच्छी तरह दिखायी भी दे रही है, भट्टारक के रूप में मुनि का अवमूल्यन उचित नहीं। हो सकता है बालाचार्य जी प्रारम्भ में नग्न दिगम्बर रूप में भट्टारक पद को स्वीकार करें, किन्तु भट्टारकों में जो दोष आ गए थे, उनसे वे बच नहीं सकते। मैं पूछना चाहता हूँ कि नग्न दिगम्बर जैनमुनि का डोली में बैठालकर भव्य शोभायात्रा निकालना क्या मुनिपद का अवमूल्यन नहीं है। यदि मुनि को पैरों से चलने की या पैरों से ठहरने की सामर्थ्य नहीं रहे तो उसे सल्लेखना ग्रहण कर लेना चाहिए, यह हमारे आगम ग्रन्थ कहते हैं। समाज नग्न दिगम्बर साधु को तो सिर माथे बैठा सकती है, किन्तु डोली का भार उसके लिए असह्य है और यदि इस प्रकार के उपक्रमों को आगे बढ़ाया गया तो उसका जोरदार विरोध होगा; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में तिल, तुषमात्र, अणुमात्र भी परिग्रह का निषेध है। परिग्रहधारी न नग्न दिगम्बर मुनि हो सकता है, न होना चाहिए। मात्र बाह्य नग्नता को साधुत्व का आधार माना जाएगा तो पशु, पक्षी भी नग्न रहते हैं। उनमें भी पूज्यता स्वीकार करनी पड़ेगी।

जिन साधु को भी भट्टारक पद का व्यामोह सताया है, वे स्वयं तो खतरनाक मोड़ पर खड़े ही हुए हैं, समाज को भी खतरनाक मोड़ पर खड़ा करने के दोषी हो रहे हैं। धीरे-धीरे ये भट्टारक वस्त्रादि का भी उपयोग कर समस्त परिग्रहों से युक्त हो सकते हैं। क्या समाज इन साधु नामधारी बालाचार्य को 'भट्टारक' पद पर अभिषिक्त कर जो जिनोक्तमार्ग में आरूढ़ हैं, उनका अवमूल्यन होने का रास्ता खोलेगी? निश्चित रूप से कहीं की भी समाज ने यह निर्णय लिया तो वह उसका और उन मुनि नामधारी का आत्मघाती कदम होगा। अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् एक मत से किसी दिगम्बर मुनि के भट्टारक पद पर अभिषिक्त होने का जोरदार विरोध करती है तथा अपने समस्त सदस्यों का आह्वान करती है कि उपर्युक्त नूतन भट्टारकीय पट्टाभिष्क समारोह का पुरजोर बहिष्कार करें और इसे सम्पन्न न होने दे तथा इसके विरोध में खुलकर आवाज उठाएं। समस्त अखिक्तभारतवर्षीय दिगम्बर जैन संस्थाओं से निवदेन है कि उपर्युक्त भट्टारकीय पट्टाभिषेक समारोह का पूरा-पूरा विरोध करें। यह जैनत्व और दिगम्बरत्व की रक्षा का प्रश्न है और इस हेतु जैन समाज हर प्रकार का त्याग करने को प्रस्तुत रहे।

श्रवण बेलगोला के भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति जी महाराज से हमारा नम्र निवेदन है कि उपर्युक्त समारोह को आप अपना किसी भी प्रकार का समर्थन न दें। यदि यह बुरी आँधी एक बार चल पड़ी तो आज अनेक संस्थाओं के शिथिलाचारी भट्टारक बनने का स्वप्न देख रहे हैं, उनके 'भट्टारक' बनने पर साधु संस्था को बहुत बड़ी चोट पहुँचेगी।

–अध्यक्ष

अखिल भारतीय वर्षीय दिगम्बर जैन

विद्वत परिषद्

जैन मंदिर के पास,

बिजनौर (उ.प्र.)

पश्चिम में सन्मति का समुचित समाहार

– डॉ. नंदलाल जैन

जापान की चतुर्थ अंतर्राष्ट्रीय गणित–इतिहास संगोष्ठी में "जैन शास्त्रों में शून्य की अवधारणा" विषय पर शोध-पत्र पाठ के निमंत्रण के अवसर का बहु-उद्देश्यीय लाभ देने के उद्देश्य से मैंने अमेरिका एवं कनाडा की यात्रायें भी की। पिछले अनेक वर्षों से अनेक जैन साधु और विद्वान् विदेश में प्रवचन हेतु जाते रहे हैं। उनके प्रवचनों में जैन धर्म के सिद्धान्तों को विश्वस्तरीय जनकल्याणी बताया जाता है। 'सन्मति की जयकार' की प्रभावी गाथा भी लिखी जाती है। उन गाथाओं एवं प्रवचनों का जैनेतर जगत एवं पश्चिमी विद्वत् जगत पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी जानकारी में मेरी रुचि रही है। इस हेतु मैंने वहां के अनेक विश्वविद्यालयों के धर्म-अध्ययन विभाग के सदस्यों से भेंट की एवं उनके पुस्तकालय एवं सार्वजनिक पुस्तकालय भी देखे। यह भी ज्ञात हुआ कि इन देशों में धर्म-अध्ययन विभाग सैकड़ों की संख्या में हैं और उनमें विद्यार्थी भी काफी होते हैं। फिर भी, जैन धर्म विषयक जानकारी या साहित्य वहां नगण्य ही देखने को मिला। हां, वहां 'विश्वधर्मों' के विवरण की अनेक पुस्तकें मिलीं जो 'धर्म-अध्ययन' विभागों में अधिकांश में पढ़ाई जाती हैं। इनके आधार पर ही नयी पीढ़ी को जैनधर्म की जानकारी मिलती है। इसीलिये मैंने वहां उपलब्ध 1889 से 1999 के बीच विभिन्न धर्म-निष्णात विद्वानों द्वारा लिखित विश्वधर्म की पुस्तकों में जैनधर्म संबंधी विवरण के लिये लगभग 25 पुस्तकें पढ़ीं। इनमें जैनधर्म का विवरण 4 से लेकर 24 पृष्ठों में है। इन्हें पढ़कर मेरा मन उद्विगन हुआ। ऐसा प्रतीत हुआ कि इस धर्म के विषय में पश्चिमी विद्वानों (कुछ को छोड़कर) में, अतएव उनके विद्यार्थियों में भी, बड़ी भ्रामक धारणायें हैं। यदि इस तरह के विवरण पढ़े जायेंगे, तो इस धर्म के प्रति पश्चिम की रुचि नकारात्मक

ही होगी। (इसका यह अर्थ नहीं कि उनके सभी विवरण इसी कोटि के हैं। अनेक पुस्तकों में जैन धर्म की अनेक मान्यताओं का अच्छा विश्लेषणात्मक विवरण भी है। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस की 1996 एवं 1997 में प्रकाशित पुस्तकों में जैनधर्म का अच्छा एवं संतुलित विवरण है)। इसका एक कारण तो यह है कि हमारा साहित्य अधिकांश लेखक विद्वानों तथा प्रकाशकों तक नहीं पहुंचा है। और जो पहुंचा है, उसके परम्परागत निरूपण के आधार पर ही उनकी ऐसी धारणायें बनीं हैं। इन विवरणों से विद्वानों के अध्ययन की एकांगिता भी प्रकट होती है। इन धारणाओं के निराकरण का तर्कसंगत प्रयत्न हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। नहीं तो, 1999 की पुस्तकों में भी ऐसी धारणायें क्यों व्यक्त की जातीं? इनके अध्ययन से मुझे ऐसा भी लगा कि विदेशों में किये जाने वाले प्रवचन/प्रसारणों से पश्चिमी जगत प्रायः अछूता ही रहा है। 'सेवन सिस्टम्स ऑफ इंडियन फिलोसोफी' (त्रिगुणायत), और 'दी वर्ल्ड रिलिजियन्स रीडर' (रटलज) जैसी अनेक पुस्तकों में जैनधर्म का विवरण ही नहीं हैं। हां, सिखधर्म का विवरण प्रायः सभी में है, उसका साहित्य भी सभी स्थानों पर दिखा। अनेक लेखक जैनधर्म और बुद्धधर्म को अभी भी हिन्दूधर्म का सुधारवादी रूप मानते हैं और दोनों धर्मो को एक ही अध्याय में विवरणित कर देते हैं। अनेक धर्म-अध्ययन विभागों में कार्यरत भारतीय विद्वान भी जैनधर्म को एक स्वतंत्र धर्म के रूप में नहीं मानते। विदेशों में बरसों रहने वाले जैन विद्वान् भी अपनी पुस्तकों में इन पश्चिमी धारणाओं के निराकरण का कोई प्रयत्न करते नहीं दिखते। "जैनीजम इन नार्थ अमेरिका (1996)" तथा 'कांक्वरर्स ऑफ दी वर्ल्ड' (1998) की भी यही स्थिति है। फलतः, जैनधर्म के सम्यक् रूप से विश्वस्तरीय समाहरण के लिये सदाशयी प्रत्यनों की अनिवार्य आवश्यकता है। इस हेतु विभिन्न पश्चिमी पाठ्य पुस्तकों तथा संदर्भ ग्रंथों में दिये गये असमीचीन या एकांगी मतों को सूचीबद्ध करने तथा उनको सम्यक् प्रकार से निराकृत कर समीचीन एवं बहु-आयामी मत प्रस्तुत करने वाली एक पुस्तक लिखी/लिखाई जानी चाहिये और इसकी प्रतियां लेखकों/प्रकाशकों को भेजनी चाहिये जिससे वे आगामी संस्करणों में अपने मतों को परिष्कृत एवं संशोधित रूप में प्रस्तुत कर सकें। हम यहां केवल कुछ विचारणीय एवं उत्तरणीय धारणाओं का संकेत करेंगे।

पश्चिमी विश्वधर्म की अनेक पुस्तकों में जैनधर्म संबंधी धारणायें

इन पुस्तकों में प्राप्त विविध धारणाओं को अनेक कोटियों में वर्गीकृत पर निरूपित किया जा सकता है :

अ. जैन धर्म सम्बन्धी सामान्य धारणायें :

1. कुछ पुस्तकों को छोड़कर अधिकांश पुस्तकों में अब भी जैनधर्म (और बुद्ध धर्म की भी) को हिन्दूधर्म का सुधारवारी रूप माना गया है। इसकी उत्पत्ति परम्परागत वैदिक धर्म की प्रवृत्तियों के प्रति असंतोष से हुई है। (थ्रावर, मुनरो, फ्रेडमेन, कॉफमेन, होफ आदि)। यह हिन्दूधर्म का अल्पसंख्यक समुदाय है।
2. जैन सम्प्रदाय एक विचित्र एवं कठिनता से ही समझा जा सकता है।
3. जैन धर्म बुद्ध धर्म के समान आकर्षक प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैन ग्रंथ कठिन और रूक्ष है। वे सबकी समझ में भी नहीं आते।
4. टायनबी के अनुसार, जैनधर्म भयंकर आत्म-केन्द्री है। यह आत्म-केन्द्रण एक बौद्धिक एवं नैतिक त्रुटि है और अस्मिता की जनक है। इसी कारण वह प्रसारित नहीं हो सका।
5. वाशम और श्वाइजर के अनुसार, जैनधर्म मूलतः स्वार्थी और नकारात्मक है। उसकी अर्हत् और तीर्थंकर की धारणायें स्वार्थ पर ही आधारित हैं। ये बोधिसत्व के समान सर्व-हितार्थी नहीं हैं। (फिर भी, वे और थ्रावर यह मानते हैं कि नकारात्मक वृत्ति के दो सकारात्मक लाभ हुए हैं – (1) सूक्ष्म ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा की शांति और (2) अन्तर्जगत् एवं बहिर्जगत के रहस्यों का ज्ञान। ये भी महतवपूर्ण उपलब्धियां हैं)।
6. जैन आचार और विचार अतिवादी हैं। इनके अनीश्वरवाद, भक्तिवाद, तपस्यायें एवं अहिंसावाद अतिवाद की सीमाओं के रूप हैं। वस्तुतः पश्चिमी समाज के लिये अनीश्वरवादी धर्म की धारणा इतनी अटपटी है कि वह उसे धर्म के अंग होने पर ही प्रश्न चिन्ह लगाता है। यह जीवन की उन्नति एवं विश्वासों का एक कठिनतम मार्ग है।
7. प्रो. मुनरो का कथन है कि पश्चिमी धर्म संस्थायें पूर्वी धर्मो की तुलना

में अधिक व्यवस्थित और तर्क-संगत हैं।

8. प्रो. हचिंसन के अनुसार, जैनधर्म के सिद्धांत संसारी जीवों के लिये नहीं हैं। यह अ-संसारिक धर्म है। फिर भी, यह अभी भी जीवित है, यह विचारणीय प्रश्न है। आनंदवादी पश्चिम के लिये जैन-सिद्धांत आघात-सा उत्पन्न करते हैं।
9. कुछ लेखकों ने जैनतंत्र को तपस्वियों एवं मुक्ति का धर्म ही माना है। अनंत सुख के लिये मुनित्व अनिवार्य है।

ब. जैनधर्म का उद्भव और महावीर का जीवन-चरित

अनेक लेखकों की 1995 तक की प्रकाशित पुस्तकों में महावीर को जैनधर्म का संस्थापक कहा गया है। तथापि, अनेक लेखक तीर्थकर परम्परा का उल्लेख भी करते हैं। कुछ पुस्तकों में महावीर को जैनधर्म का ऐतिहासिक संस्थापक बताया गया है और उसके पूर्व के इतिहास पर मौन रखा गया है। फिर भी, कुछ विद्वानों ने महावीर को जैन परम्परा को पार्श्व की तुलना में अधिक सकारात्मक रूप (ब्रह्मचर्य, प्रतिक्रमण आदि) देने वाला प्रवर्तक और परिवर्धक बताया है। डॉ. राइस तथा डॉ. जिमर के समान विद्वानों के जैन धर्म के आर्य—पूर्वकाल (1700-2700 ई.पू.) के अस्तित्व के मत की तुलना में उन लेखकों के मत एकांगी ही लगते हैं।

प्रायः सभी पुस्तकों में महावीर का जीवन चरित पाया जाता है जो कल्पसूत्र के विवरण पर आधारित होता है (गर्भाहरण, विवाह, एक पुत्री, देवदूष्य आदि। कुछ लेखक इनके जीवन में कुछ चमत्कारिकता भी मानते हैं)। फिर भी, ईसा, मुहम्मद या बुद्ध जैसा चमत्कारिक न होने से पश्चिमी विद्वानों ने उनके चरित को अनाकर्षक, औपचारिक, अल्पविश्वसनीय एवं पौराणिक माना है।ये लेखक एक ओर जहां महावीर को घोर साधक, साहसी, जटिल दार्शनिक एवं सक्षम संगठक मानते हैं, वहीं वे उनके कठोर साधनामय जीवन की चर्चा करते हुए उन्हें अतिवादी एवं कष्टप्रद विवेकशून्य प्रवृत्तियों में रत साधु भी कह देते हैं।

जैनधर्म के प्रकृतिवादी होने के बावजूद भी उनके गर्भ-जन्म आदि के विवरण परा-प्राकृतिक बताये गये हैं। ये पौराणिक अधिक लगते हैं। उनका

समय भी 599-527 ई.पू. के बदले 540-468 ई.पू. को अधिक ऐतिहासिक मानते हैं। इस आधार पर उन्हें गौतम बुद्ध, कनफ्यूशियस, लाओत्से, जेरामिग्रा (हेब्रीउ) आदि की सम-सामयिकता देते हैं। इसी प्रकार उनके समय में भारत में सात अन्य दार्शनिकों का उल्लेख भी करते हैं।

अनेक पुस्तकों में उनके जन्मस्थल (पटना), दीक्षा-वय (28 वर्ष), पिछीमात्र धारण, महावीर निर्वाणकाल के बाद 70 वर्ष तक चतुर्थकाल का अस्तित्व आदि के सम्बन्ध में त्रुटिपूर्ण सूचनायें भी हैं।

सभी लेखकों ने महावीर द्वारा उपदिष्ट तपोसाधना को अत्यंत कठोर और अतिवादी तथा उनके दार्शनिक विचारों को अतिसाहसिक एवं मौलिक बताया है। वे अध्यात्म के पहलवान थे और भौतिकता से पलायनवादी थे। उनके उपदेश मुख्यतः अल्पसंख्यक अनुयायिओं (साधुओं या श्रमणों) के लिये ही थे।

स. जैनधर्म के सिद्धांत : (1) नीति और आचार

जैनसम्प्रदाय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—बहुसंख्यक या श्रावक वर्ग और अल्पसंख्यक या साधुवर्ग। साधुओं का आचार प्रायः आदर्श माना जाता है। गृहस्थों का आचार व्यावहारिक होता है। आजकल एक तीसरी श्रेणी भी सामने आई है जो इन दोनों की मध्यवर्ती है। इसका आचार प्रायः साधु-समान होता है (पर इसे विदेश-गमन जैसी कुछ सुविधायें प्राप्त हैं)। श्रावकों के छह दैनिक कर्त्तव्य होते हैं। इनमें देवपूजा मुख्य है। यह सकारात्मक मानसिक अवस्था उत्पन करती हैं। फाइन्स, हॉफ एवं फ्रेडमान आदि ने पूजन पद्धति के निरूपण में श्वेताम्बर विधि का आधार लिया है, दिगम्बर पद्धति का नाम भी नहीं है जिसे पी. एस. जैनी ने अपनी पुस्तक में भी दिया है (1979)।

पाश्चात्य विद्वान् प्रायः जैन सिद्धान्तों को तपोसाधना एवं मुक्ति के सिद्धान्त के रूप में देखते हैं। अतः 1995 तक के अनेक लेखकों ने उन्हें निवृत्तिमार्गी माना है जिसमें जीवन और जगत की अस्वीकृति तथा दोनों से पलायन की धारणा है। यह जगत और जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण अपनाता है और प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति को निरूत्साहित करता है। इसका नीति और आचार शास्त्र इसी धारणा पर आधारित है। जैन क्वेकर-सम्प्रदाय

के समान संतोष एवं शांति के पुजारी हैं पर इनके अहिंसा, असत्यवर्जन, अचौर्य, अब्रह्मवर्जन एवं अपरिग्रह के पांचों मूल सिद्धांत जीवन को नकारने की वृत्ति के द्योतक हैं। प्रो-हॉफ का कथन है कि इनमें से प्रथम तीन तो सामान्य श्रावक यथासंभव पालते हैं, पर अंतिम दो सिद्धांतों के पालन में, कुछ कठोरताओं के बावजूद भी काफी शिथिलता रहती है। पर साधु-साध्वीगण इन पर सूक्ष्मता से अमल करते हैं। तथापि, ये पांचों ही सिद्धान्त असीम हैं और सभी कोटि के प्राणियों पर लागू होते हैं। प्रो. श्वाइजर ने अनुमान लगाया है कि ये जैनों के मूल सिद्धांत नहीं हैं। ये तो जैनों की निवृत्तिमार्गी भूमिका से प्रसूत हैं जिनमें अक्रियता के गुण के साधन के रूप में ये बातें आई हैं। वस्तुतः जैन स्वयं को जगत से अनावृत करने के लिये करुणा आदि की बाते करते हैं। उन्हें दूसरों के हित से क्या मतलब है? वे दयामय अक्रियता को मानते हैं और दूसरों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण सहयोग को नकारते हैं। इसलिये जैन आचार शास्त्र व्यक्तिवाद और अस्मिता के जनक पाये जाते हैं। (आचार्य रजनीश के भी लगभग ऐसे ही विचार थे)। प्रो. वाशम के अनुसार भी जैन आचार मूलतः नकारात्मक एवं स्वार्थ प्रधान हैं। यह व्यक्तिमूलक हैं, समाजमूलक नहीं। इसीलिये जैनों की जीवन पद्वति कठोर नियमों से अनुशासित रहती है। यही इस तंत्र की दीर्घजाविता का रहस्य है। फिर भी, वे अन्य धर्मो के विपर्यास में मुनित्व के बिना सामान्य जन को सम्पूर्ण सुखमयता प्रदान नहीं करते।

जैनों के उपरोक्त पांच सिद्धांत श्रावक एवं मुनि दोनों के लिये समान हैं, पर मुनित्व में ही उनकी सूक्ष्म एवं पूर्ण परिपालना होती हैं (अनेक लेखकों ने अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिफल के रूप में शाकाहार, पर्यावरण सुरक्षा एवं हिंसक उद्योगों की अस्वीकृति एवं अन्य तंत्रों पर उसके प्रभाव की भी चर्चा की है)। इसक बावजूद भी प्रो. नॉस की मान्यता है कि जैनों की नैतिक संहिता अशुभ क्रियाओं से विरक्ति दिलाती है एवं सुख-संवर्धन करती है। यही नहीं, कठोरी तपस्वी जीवन दूसरों को भी प्रभावित कर परोक्षतः जनकल्याणी सिद्ध होता है।

जैनों की नैतिक संहिता व्यक्तिवादी होने के बावजूद भी व्यक्ति को ही अपना 'भाग्यविधाता' स्वीकार करती हैं। इसलिये वे अवतारवादी नहीं हैं। उनके महापुरुष उनके भाग्यनिर्माण में सहायक नहीं हैं, वे केवल दिशा एवं प्रेरणा

के स्रोत हैं। इसलिये जैनों में, अन्य धर्मो के विपर्यास में पूजा, प्रार्थना, मंदिर आदि महत्वहीन हैं। यद्यपि उनके मूल सिद्धांत सुगमता से समझ में आते हैं पर उनका विस्तार एवं दर्शन सरलतः बोधगम्य नहीं हैं।

(2) तत्वमीमांसा

जैनों की तत्वमीमांसा द्वैतवादी (जीव-अजीव) एवं बहुत्ववादी (षट् द्रव्य, नवपदार्थ, सात तत्व) है। विद्वानों ने इसे यथार्थवादी बताया है। इसका लक्ष्य जीव-अजीव (कर्म) के संयोग को तोड़कर मुक्ति प्राप्त करना है। कर्म के माध्यम से इनका जीव-जगत-संबंध बड़ा मनोरंजक है। इनका अजीव जगत परमाणुवादी है। सामान्यतः यथार्थवादी होने के कारण जैनधर्म नियतिवादी नहीं है पर वह प्रकृतिवादी एवं निरीश्वरवादी है जहां सकारात्मक नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव प्रारम्भ में निरीश्वरवादी ही था। इसीलिये चार्वाक मत सबसे पुराना माना जाता है (थ्रावर)। जैन ईश्वरवाद का जगन्नियंतृत्व नहीं मानते, पर वे सभी जीवों में ईश्वरत्व की क्षमता मानकर बहु-ईश्वरवादी हैं। इसीलिये चार्वाक के समान इस मत को भी लोकप्रियता नहीं मिली।

जैन ईसाईयों या मुस्लिमों के समान विशुद्ध भक्तिवादी नहीं हैं पर वे ज्ञान-दर्शन-चरित्र की त्रितयी मानते हैं। इस बहु-आयामिता के कारण ही वे अब तक (और भविष्य में भी) दीर्घजीवी रहे हैं। पश्चिमी जगत अनीश्वरवादी तंत्र को धर्म संस्था के रूप में मानने को तैयार नहीं है। (वह ईश्वरवाद विरोधी बुद्धिवाद को सुनने भी तैयार नहीं है)।

जैन कर्मवादी एवं लेश्यावादी है। (वह उनकी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिणाम है)। इन सिद्धान्तों में भी निराशावादी धुन भरी हुई है। पर जैनों के ये सिद्धान्त विशिष्ट हैं और जीव-अजीव के संयोग के लिये आध्यात्मिक सरेस का काम करते हैं। राइस ने बताया है कि जैनों की तत्वमीमांसा पूर्णतः निराशाजनक है। यह सर्व-जीववाद से प्रारम्भ होकर ईश्वरत्व के उच्चतम शिखर (?) तक जाती है। वे बौद्धों के प्रेम, आनंद, करुणा और शांति की चतुष्टयी को तो सकारात्मक मानते हैं (पर जैनों की मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं मध्यस्थवृत्ति की चतुष्टयी का नाम तक नहीं लेते)। वे जैनों की सकारात्मक प्रवृत्तियों को

वामपंथी तक कह देते हैं।

जैनों का विकासमान एवं ह्रासमान चक्रीय विश्व का सिद्धान्त भी मनुष्य को संकटापन्न बना देता है। इनका तर्कशास्त्र एवं प्रमाणशास्त्र सूक्ष्म है पर जटिल है। इनका स्याद्वाद का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों को प्रायः चक्कर में डाल देता है। पर यह नियतिवाद से मेल नहीं खाता। (नयवाद का उल्लेख भी कहीं नहीं मिला)।

(3) जैन धर्म और महिलायें

जैन समुदाय में महिला – साध्वियां पुरुषों से प्रायः तीन गुनी हैं (फाइन्स), पर उनका स्तर पुरुष साधुओं से हीन माना जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में महिला साध्वियां भी मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं, पर दिगम्बर परम्परा इसे नहीं मानती।

(4) जैन धर्म : समाज धर्म

यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि महावीर ने तत्कालीन समाज में पर्याप्त सुधार किये और जागृति लाई, पर वे जैन धर्म को समाज धर्म मानते प्रतीत नहीं होते, क्योंकि समाज की सामान्य प्रवृत्तियाँ जैन सिद्धान्तों से काफी विषम होती हैं। फिर व्यक्तिवादी सिद्धान्त समाज पर लागू भी नहीं होते। श्वाइजर के अनुसार जैन धर्म में समाजोपयोगी सिद्धांत ही नहीं है और जो हैं, वे भी हिन्दू धर्म से समाहित हुए हैं।

(5) जैन साहित्य

अनेक लेखकों ने श्वेताम्बर और दिगम्बर आगमिक साहित्य का उल्लेख किया है पर प्रो. वाशम ने स्पष्ट कहा है कि यह नीरस एवं पांडित्य प्रदर्शक है।

(6) त्रुटिपूर्ण कथन

1. सभी लेखक जैनों के दो मुख्य सम्प्रदायों का पहली सदी में उद्गम मानते हैं और उनका उल्लेख भी करते हैं। कहीं-कहीं स्थानकवासी संप्रदाय

का उल्लेख भी है, पर अभी तेरापंथी श्वेताम्बरों एवं तारणपंथी दिगम्बरों का उल्लेख सामान्य नहीं हुआ हैं

2. भारत में जैनों की स्थिति प्रायः प्रत्येक प्रदेश में न्यूनाधिक मात्रा में पायी जाती है, पर लेखकों ने श्वेताम्बरों को उत्तर भारत में तथा दिगम्बरों को दक्षिण भारत में स्थित बताया है। (संभवतः उनकी यह धारणा ऐतिहासिक दृष्टि से होगी)। वे पश्चिम, मध्य एवं पूर्वी भारत को भूल से गये हैं।
3. कुछ सैद्धांतिक मान्यताओं के कारण श्वेताम्बरों को अधिक उदार एवं लोकप्रिय माना गया है जबकि दिगम्बरों को अनुदार कहा गया है।
4. उपवास केवल महिलायें करती हैं और बोलियां पुरुष लेते हैं।
5. तीर्थ क्षेत्रों में सिद्ध क्षेत्रों तथा अतिशय क्षेत्रों का उल्लेख नहीं होता। इनमें गिरनार, सम्मेदशिखर एवं पावापुर (कैलाश भी) शायद ही कभी आते हैं। आबू और शत्रुन्जय (कभी-कभी श्रवणवेलगोला) सम्भवतः कला सौष्ठव के कारण उद्धृत किये जाते हैं।
6. कॉफमैन ने बताया है कि जैन प्रतिमायें बुद्ध प्रतिमाओं से भिन्न और अनाकर्षक होती हैं। इन प्रतिमाओं से करुणा और कोमलता की अभिव्यक्ति नहीं होती। जब उन्हें सजा देते हैं, तब तो वे और भयंकर लगती हैं।
7. सल्लेखना की प्रक्रिया को सभी में 'स्वयं भूखे मरने' के रूप में लिया है।
8. जैनों ने काफी समय पूर्व मुनित्व की नग्नता के सिद्धांत को छोड़ दिया और आज तो काफी दिगम्बर मुनि भी सवस्त्र रहने लगे हैं।
9. जैनों में हिन्दुओं जैसी विशिष्ट साधनायें नहीं हैं, पर केश लुंचन, कठोर आसन, उत्तापना ध्यान, अधिक उपवास (महावीर के 12 वर्ष के 4380 दिनों के तपस्वी जीवन में 4000 उपवास के दिन) आदि साधना की अतिवादी एवं विवेकशून्य प्रवृत्तियां हैं। पादरी मुरे के अनुसार, भिक्षाटन एवं रुक्ष भोजन भी विवेकशून्य प्रक्रियायें हैं।

उपसंहार

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि बीसवीं सदी के अन्त

में भी पश्चिमी देशों के अधिकांश विद्वत् जगत में जैन धर्म के विषय में कितनी एकांगी एवं विकृत धारणायें हैं। ईसाई जगत के दस सिद्धान्तों में प्रायः 70 प्रतिशत नकारात्मक बिन्दु हैं, फिर भी वे ऐसे नहीं माने जाते। लेकिन जैन सिद्धान्त नकारात्मक कहे जाते हैं। इसी प्रकार, जैन धर्म के एक-दो प्रारम्भिक आगमों के आधार पर उसे केवल मुनि धर्म कहना सही नहीं है, अन्य ग्रंथों एवं आगमों में भी श्रावकाचार का वर्णन है। श्रावक-श्राविकायें जैन संघ के महत्त्वपूर्ण अंग है और उनके कारण ही मुनि संस्था एवं संघ की जीवंतता बनी हुई है। अहिंसक व्यवसायों एवं कठोर आचार के अभ्यास से भी जैन प्रतिष्ठित हुए हैं। अस्तु, उपरोक्त विवरणों के परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यक है कि इनको साधार निराकृत करने के लिये जैन विद्या मनीषियों द्वारा एक नवीन पुस्तिका लिखी जानी चाहिये। इसके लिये विदेशों में जैन-धर्म संप्रसारण में कार्यरत संस्थाओं को आगे जाना चाहिये। इस प्रकार की पुस्तक के लेखन में पिछले पचास वर्षो में जैन धर्म या विश्व धर्मों के विवरण वाली विदेशी पुस्तकों का संकलन एवं आकलन करना होगा। इक्कीसवीं सदी में जैन धर्म की यथास्थितिवादी मान्यताओं की गतिशीलता, सकारात्मकना एवं सुख-संवर्धन-क्षमता को प्रकाशित करना होगा। आशा है, जैनों के कुछ अंतर्राष्ट्रीय संस्थान इस दिशा में आगे आवेंगे एवं विश्वस्तर पर सन्मति की जैन मान्यताओं के समुचित समाहरण में योगदान करेंगे।

जैन केन्द्र, रीवा (म.प्र.)

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन काफ़ी दिनों से अस्वस्थ चल रहे थे। गत महीने उनका निधन हो गया है। वे अनेकान्त पत्र के वर्षों सलाहकार रहे हैं। वीर सेवा मंदिर की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि।

आगम के आलोक में अनुयोग का कथन

–पं. आनंद शस्त्री "आसु"

शास्त्र में पुण्य भाव को धर्म बहुत जगाता है ऐसा कहा है, और पुण्य भाव को व्यवहार मोक्षमार्ग भी कहा है एवं पुण्य को परम्परा मोक्ष का कारण भी कहा है परन्तु नय का एवं अनुयोग का ज्ञान नहीं होने के कारण जीव शास्त्र पढ़ते हुए भी मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। जैसे पुरुषार्थ चार कहा है–धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष। परन्तु धर्म का अर्थ समझता नहीं है एवं उसका परमार्थ अर्थ भी समझता नहीं है। मात्र शास्त्र का शब्द ज्ञान कर तोते की माफिक बोल देता है। इसी का परमार्थ अर्थ यह है कि धर्म का अर्थ पुण्य है, पुण्य से अर्थ अर्थात् धन मिलता है और अर्थ अथवा धन से भोग की सामग्री मिलती है और इन तीनों का अभाव करने से अर्थात् तीनों का त्याग करने से मोक्ष मिलता है। यह परमार्थ का ज्ञान न होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। इसीलिए सर्वप्रथम मोक्षमार्गी जीवों को अनुयोगों का ज्ञान करना चाहिए क्योंकि तीनों अनुयोग अलग-अलग कथन करते हैं और अज्ञानी इसका ज्ञान न होने के कारण शास्त्र स्वाध्याय करते हुए भी मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। द्रव्यानुयोग और करणानुयोग का निमित्त-नैमित्तक संबंध है और द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग का कारण-कार्य संबंध है। यही ज्ञान न होने से चरणानुयोग के कथन को द्रव्यानुयोग समझ जाता है और द्रव्यानुयोग के कथन को चरणानुयोग समझ जाता है। यही मिथ्यात्व रहने की महान् भूल है इस भूल का नाश करने के लिए अनुयोग का ठीक-ठीक ज्ञान करना चाहिए।

चरणानुयोग – यह अनुयोग रागादि भाव छुड़ाने का अभिप्राय रखते हुए यह पर पदार्थ के त्याग का उपदेश करता है। यद्यपि पर पदार्थ का त्याग नहीं होता परन्तु उसके प्रति जो ममत्व भाव है उसी का त्याग करना कार्यकारी

है। जैसे रस छोड़ देवे और राग न घूटे तो त्याग कोई कार्यकारी नहीं है, क्योंकि रस छोड़ना धर्म नहीं है परन्तु राग छोड़ना धर्म है।

चरणानुयोग छद्मस्थ जीवों के बुद्धिगम्य बातों का ही व्याख्यान करता है। लोक का सर्व व्यवहार चरणानुयोग से ही चलता है। चरणानुयोग में गुणस्थान मात्र बाह्य प्रवृत्ति पर है जिसके आधार पर लोक की प्रवृत्ति चलती है। चरणानुयोग नोकर्म को बाधक-साधक मानता है। पात्रादिक का भेद चरणानुयोग में ही होता है जिस कारण चरणानुयोग में ही भक्ति आदि क्रियायें होती हैं। करणानुयोग में पात्रादिक का भेद नहीं है जिस कारण से करणानुयोग में भक्ति होती ही नहीं है। क्योकि जिस जीव का भाव ग्यारहवां गुणस्थान का है वही जीव अपने भाव से गिरकर समय मात्र में मिथ्यात्व आदि गुणस्थान में आ जाता है। जहां परिणामों की ऐसी स्थिति है वहां छद्मस्थ जीव परिणामों को देखकर भक्ति कर नहीं सकता, क्योंकि छद्मस्थ जीव का ज्ञानोपयोग असंख्यात समय में ही होता है इसीलिए भक्ति में प्रधानता चरणानुयोग की ही हैं

चरणानुयोग यही उपदेश देगा कि अभक्ष्य पदार्थ छोड़ो बाजार की चाट छोड़ो जल छानकर पीओ, रात्रि में सभी प्रकार के आहार का त्याग करो, घर का त्याग करो, वस्त्र का त्याग करो नग्न दिगम्बर मुनि बनो। चरणानुयोग की अपेक्षा मुनिलिंग सर्वथा निर्ग्रन्थ ही होता है जिसके पास में एक सूत्र मात्र परिग्रह है वह मुनि नहीं है परन्तु गृहस्थ है। चरणानुयोग की अपेक्षा नग्न दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र है। ऐलक क्षुल्लक आर्यिका क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आदि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है वे ही मध्यम पात्र हैं और अव्रती श्रावकपाक्षिक है वह जघन्य पात्र है।

चरणानुयोग की अपेक्षा जो नग्न दिगम्बर है जिसको व्यवहार से छह द्रव्य, नौ तत्व, पंचास्तिकाय, बंध मोक्ष के स्वरूप का ज्ञान है जो 28 मूलगुणों का आगमानुकूल पालन करता है। जो बाईस परीषहों को आगमानुकूल जीतता है, जो देव मनुष्य तिर्यच द्वारा आये हुए उपसर्गो को जीतता है उसको ही मुनि मानकर नमोऽस्तु कहना चाहिए। और उसकी ही नवधा भक्ति होती है। ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका की नवधा भक्ति में से पूजन छोड़कर आठ प्रकार की भक्ति होती है क्योंकि उसका पंचम गुणस्थान है और उनको

नमोऽस्तु नहीं कहना चाहिए परन्तु इच्छाकार कहना चाहिए। (देखिए सूत्रपाहुड़ की गाथा 13)

भक्ति चरणानुयोग का ही विषय है क्योंकि जिस आत्मा का ग्यारहवां गुणस्थान रूप परिणाम है वही आत्मा अपने परिणामों से च्युत होने पर समय मात्र में प्रथमादि गुणस्थानवर्ती हो जाता है जहां परिणामों की स्थिति ऐसी है वहां छद्मस्थ जीव परिणाम देखकर भक्ति कर नहीं सकता। इसलिए भक्ति नियम से चरणानुयोग में होती है। चरणानुयोग की अपेक्षा जब तक वस्त्रादिक का त्याग नहीं किया जाता तब तक छठवां गुणस्थान माना नहीं जाता। इसी कारण स्त्रियों का पंचम गुणस्थान ही माना जाता है और उनकी पंचम गुणस्थान के अनुकूल भक्ति करनी चाहिए।

जब वस्त्रादिक का त्याग और केंशलोंच नहीं होगा तब तक चरणानुयोग तीर्थकर का छठवां गुणस्थान स्वीकार नहीं करता है। चरणानुयोग मात्र बाह्म प्रवृति देखता है कि जो प्रवृत्ति छद्मस्थ जीवों के ज्ञानगोचर है। इसीलिए चरणानुयोग में ही पद के अनुकूल भक्ति होती है। चरणानुयोग ब्राह्य वस्तु के संयोग में परिग्रह मानता है। दान देने से चरणानुयोग कहता है महादानेश्वर धर्मात्मा है। जबकि करणानुयोग कहता है कि कहा दानेश्वर है, महामान कषायी पापी आत्मा है। मान से धन का त्याग कर रहा है। करणानुयोग और चरणानुयोग परस्पर विरोधी कथन करते हैं। चरणानुयोग रस छोड़कर भोजन लेने वालों को धर्मात्मा कहता है जब करणानुयोग कहता है कि भोजन में महान् लालसा है इस *कारण पापी है। जिसने स्त्री का त्याग किया है उसको चरणानुयोग* कहता है ब्रह्मचारी है। जब करणानुयोग कहता है वह तो भाव से नारी सेवन करने से भोगी है। चरणानुयोग कार्य देखकर कहता है कि मनुष्य उच्च एवं नीच गोत्री होता है जब करणानुयोग हिम्मत से कहता है कि मनुष्य नीच गोत्री होता ही नहीं है, उच्चगोत्री में ही मनुष्य पर्याय मिलती है। संमूर्छन मनुष्य जिसकी आयु श्वास के अठारहवें भाग मात्र है वह भी उच्चगोत्री है। (देखिए गोम्मटसार गाथा 13 और 285।)

करणानुयोग – करणानुयोग बाह्य पदार्थों को अर्थात् नोकर्म को साधक-बाधक नहीं मानता है परन्तु कर्म को ही बाधक मानता है और कर्म के अभाव को

साधक मानता है। कर्म प्रकृति को छोड़ने को यह अनुयोग उपदेश देता है। स्त्री को संयत गुणस्थान होता है वह करणानुयोग की अपेक्षा से माना जाता है, परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा से स्त्री का पंचम ही गुणस्थान मानना चाहिए। और पंचम गुणस्थान रूप उसका आदर सत्कार करना चाहिए। करणानुयोग की अपेक्षा से बाह्य परिग्रह होते हुए जीव मिथ्यात्व में से सीधा चतुर्थ गुणस्थान रूप भाव, पंचम गुणस्थान रूप भाव एवं सप्तम गुणस्थान रूप भाव कर सकता है। बाह्य पदार्थ करणानुयोग बाधक मानता नहीं। श्री पांडव युधिष्ठिरादिक नग्न दिगम्बर अवस्था में शत्रुंजय पहाड़ पर ध्यानावस्था में थे तब अपने ही भाई ने पूर्व वैर के कारण लौह का गहना जेसे मुकुट, हार, कुण्डल, वाजूबंध इत्यादि तप्तायमान कर उनको पहना दिया। इस अवस्था में मुनि महाराज श्रेणी मांडकर तीन बड़े भाईयों ने सिद्ध पदवी प्राप्त कर ली और दो लघु भ्राता ने सर्वार्थसिद्धि पद की प्राप्ति कर ली। देखिए, बाह्य गहनों का संयोग होते हुए भी उन महात्माओं ने अपना निर्मल परिणाम कर सिद्धगति प्राप्त कर ली। इससे सिद्ध होता है कि करणानुयोग बाह्य पदार्थो को बाधक नहीं मानता।

करणानुयोग में प्रधानपना निमित्त का ही है। जिस प्रकार कर्म का उदय होगा उसी प्रकार ही नैमित्तक आत्मा की अवस्था होगी। मनुष्यगति का उदय हुआ तब आत्मा को नियम से मनुष्य गति में आना ही पड़ा। मिथ्यात्व का उदय आने से आत्मा की परिणति नियम से मिथ्यात्व की होनी ही चाहिए करणानुयोग में ही संयोग संबंध होता है। जो जीव निमित्त को नहीं स्वीकार करता उस जीव ने करणानुयोग माना नहीं। करणानुयोग को न मानने वाला एकांत मिथ्यादृष्टि है। करणानुयोग और द्रव्यानुयोग में भी परस्पर विरोध है, यदि दोनों अनुयोग समान कथन करते तो दो अनुयोग मिलकर एक अनुयोग बन पाता। परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नही है। सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी स्वीकार करना पड़ता है कि अपनी इच्छा राग करने को नही है तो भी मोहनीय कर्म के उदय में कर्म की वरजोरी से आत्मा में रागादिक हो ही जाता है। यह किसकी प्रधानता है। निमित्त की या उपादान की। अनंतवीर्य के धनी तीर्थकर देव को भी अपने आत्मा के प्रदेश तीन लोक की बराबर कर्म के

उदय से करना ही पड़ते हैं। यह किसकी महिमा है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा चेतन प्राण से जीता है जब करणानुयोग कहता है कि आत्मा चार प्राणों से जीता हैं द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा खाता नहीं तब करणानुयोग कहता है आत्मा खाता है। द्रव्यानुयोग कहता है आत्मा अमूर्तिक है तब करणानुयोग कहता है कि आत्मा मूर्तिक है। यदि मूर्तिक नहीं होता तो आत्मा को सुई लगना नहीं चाहिए। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा असंख्यातप्रदेशी है जबकि करणानुयोग कहता है कि आत्मा स्वदेह प्रमाण है द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा ज्ञान से देखता है तब करणानुयोग कहता है आत्मा इन्द्रियों से देखता है। ज्ञान का क्षयोपशम होते हुए भी इन्द्रिय बिना कैसे देखेगा। करणानुयोग कहता है कि ज्ञान चेतना चौथे गुणस्थान से स्वीकार करता है जबकि द्रव्यानुयोग चेतना तेरहवें गुणस्थान से स्वीकार करता है।

द्रव्यानुयोग – इस अनुयोग में प्रधान रूप से आत्मा की ओर से ही उपदेश दिया जाता है जो यथार्थ ही उपदेश हैं इस उपदेश द्वारा ही आत्मा विशेष कर अपने कल्याण के मार्ग को समझ सकता है। इस अनुयोग में उपचार से कथन नहीं किया जाता। जिस कारण से आत्मा दुखी है वही यथार्थ कारण कहा जाता है आत्मा अपने ही कारण से सुखी होता है। आत्मा को सुखी-दुखी करने वाला अन्य कारण संसार में नहीं है। अर्हत देव निर्ग्रंथ गुरु आदि कोई भी पद आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता है। आत्मा का शत्रु मित्र स्वयं आत्मा ही है। जैसे पेट में दर्द होने से चरणानुयोग कहेगा कि दाल खाने से पेट में दर्द होता है परन्तु चौके में दाल तो सबने खाई हैं यदि दाल से दर्द होवे तो सबको दर्द होना चाहिए। करणानुयोग कहता है कि दर्द तो मात्र असाता के उदय से हुआ है इसी प्रकार द्रव्यानुयोग कहता है कि महान् असाता का उदय सुकौशल एवं गजकुमार मुनि को होते हुए भी उन्होंने आत्मा की शांति एवं केवलज्ञान की प्राप्ति की। उससे असाता का उदय पेट में दर्द होने का कारण नहीं है, परन्तु अपना राग ही मात्र दुःख का कारण है। इसी प्रकार तीनों अनुयोग अपने-अपने पद में रहकर कथन करते हैं। तो भी तीनों अनुयोग एक-दूसरे अनुयोग का निषेध नहीं करते यदि निषेध करते हैं तो एकांत कथन करने से स्वयं मिथ्यात्व आ जाता है।

द्रव्यानुयोग में प्रधानता संवर-निर्जरा का भेद नहीं पड़ता, कारण कि सब गुणों की अवस्था होती है शुद्ध-अशुद्ध। परन्तु एक समय में एक ही अवस्था होगी। एक ही साथ में दो अवस्था अथवा मिश्र अवस्था द्रव्यानुयोग स्वीकार नहीं करता है जिस काल में ज्ञानगुण अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में अज्ञान भाव ही है और जिस काल में शुद्ध परिणमन करता है उसी काल में ज्ञान भाव है। उसी प्रकार जिस काल में चरित्र गुण अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में नियम से आकुलता है और जिस काल में चारित्र गुण शुद्ध परिणमन करता है उस काल में निराकुलता ही है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यानुयोग में संवरनिर्जरा का भेद नही है।

द्रव्यानुयोग में गुणस्थान आदि भेद नहीं होता है गुणस्थान का भेद तो करणानुयोग में ही होता है। द्रव्यानुयोग पर पदार्थ को छोड़ने का उपदेश नहीं देता वह तो दुःख का कारण जो मिथ्यात्वादि आत्मा के परिणमन है उन्हें ही छोड़ने का उपदेश देता है, द्रव्यानुयोग में परपदार्थ साधक-बाधक नहीं होते हैं वहां साधक-बाधक मानना मिथ्यात्व है। पर पदार्थ को साधक-बाधक अन्य अनुयोग मानता है और उसी का नाम व्यवहार है इसीलिए शास्त्र की पद्धति व वर्णन व्यवस्था का ज्ञान करना बहुत जरूरी है।

– 24 बृजदुलाल स्ट्रीट, कलकत्ता

दिगम्बरत्व के विषय में नाथूराम प्रेमी का लेख

क्या कभी कोई तीर्थस्थान मात्र इसलिए किसी सम्प्रदाय विशेष का हो जाता है कि उस तीर्थ पर अभिषेक अथवा माला की अधिक बोली उस सम्प्रदाय ने लगायी है? अतीत में दिगम्बर जैन तीर्थों के प्रति ऐसी ही घटनाओं के आधार पर शृंगारी मूर्ति-पूजक समाज ने कई तीर्थ अपने अधिकार में करने की कुचेष्टा की है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ नाथूराम जी प्रेमी के इस लेख में मूर्ति-पूजक समाज के ग्रन्थों के साक्ष्य के आधार पर उस तथ्य की पुष्टि की गई है।

डॉ. रमेशचन्द जैन ने भी 'दिगम्बरत्व की खोज' नामक पुस्तक में लेख का संकलन कर यह सोचने पर विवश किया है कि दिगम्बर जैन समाज की उदासीनता के कारण समाज को कितनी क्षति उठानी पड़ी है। इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकने के लिए यह आवश्यक है कि विद्वत् समाज इस दिशा में गहन चिन्तन एवं विचार-विमर्श कर, समाज को वस्तुस्थिति से अवगत कराये ताकि समाज की सुप्त चेतना जागृत हो और तीर्थो के मूल स्वरूप की रक्षा हो सके–

–सम्पादक

पहले तीर्थो पर तीर्थकरों या सिद्धों के चरणों की पूजा होती थी और ये चरण दोनों को समान रूप से पूज्य थे। प्राचीन काल में दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओं में कोई भेद न था। प्रायः दोनों ही नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे। मथुरा के कंकाली टीले में लगभग दो हजार वर्ष की प्राचीन प्रतिमायें मिली हैं, वे नग्न हैं और उन पर जो लेख हैं, वे कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार हैं। इसके सिवा 17वीं सदी में पं. धर्मसागर उपाध्याय ने अपने प्रवचन परीक्षा नामक ग्रन्थ में लिखा है कि गिरनार और शत्रुंजय पर एक समय दोनों साम्राज्यों में झगड़ा हुआ और उसमें शासन देवता की कृपा से दिगम्बरों की पराजय हुई। अब इन दोनों तीर्थो पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का

अधिकार हो गया। आगे जाकर किसी प्रकार का झगड़ा न हो, इसके लिए श्वेताम्बर संघ ने यह निश्चय किया कि अब से जो नई प्रतिमायें बनवायी जायें, उनके पाद मूल में वस्त्र का चिन्ह बना दिया जाय। इस पर दिगम्बरों को क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी प्रतिमाओं का नग्न बनाना शुरू कर दिया। यही कारण है कि संप्रति राजा आदि की बनवाई हुई प्रतिमाओं पर वस्त्र लांछन नहीं है और आधुनिक प्रतिमाओं पर है। इससे पूर्व की प्रतिमाओं पर वज्र लांछन भी नहीं है और स्पष्ट नग्नत्व भी नहीं है। इस कथन से यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि पूर्वोक्त विवाद के पहले दोनों प्रतिमाओं में भेद नहीं था। दोनों एकत्र होकर उपासना करते थे। उस समय तक लड़ने झगड़ने को कोई कारण न था। अब तो दोनों की प्रतिमाओं और उपासना विधि में भी बहुत अन्तर पड़ गया है।

रत्नमण्डल गणिकृत सुकृतसागर नाम के ग्रन्थ पेथड़तीर्थ यात्राद्वय्र प्रबन्ध में लिखा है कि प्रसिद्ध दानी पेथड़ शाह शत्रुंजय की यात्रा करने संघ सहित गिरनार पहुँचे। उनके पहले यहॉ दिगम्बर संघ आया हुआ था। उस संघ का स्वामी पूर्णचन्द्र नाम का अग्रवालवंशी धनिक था। वह देहली का रहने वाला था। उसे अलाउद्दीन शाखीनमान्य विशेषण दिया है। अर्थात् वह कोई राजमान्य पुरुष था। उसने कहा कि पर्वत पर पहले हमारा संघ चढ़ेगा; क्योंकि एक तो हम लोग पहले आए हैं, दूसरे यह तीर्थ भी हमारा है। यदि यह तीर्थ तुम्हारा है तो इसका प्रमाण दो। यदि भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा पर अंचलिका और कटिसूत्र प्रकट हो जाय तो इसे तुम्हारा तीर्थ मान लेंगे। भगवान् भव्य जनों के दिए हुए आभरण सहन नहीं कर सकते, इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह तीर्थ हमारा है। इस पर पथेड़गाह बोले कि भगवान आभरणादि सहन नहीं कर सकते, इसका कारण यह है कि उनकी कीर्ति बारह योजन तक फैली हुई है। आम के वृक्ष पर तोरण की ओर लंका में लहरों की चाह नहीं होती। जिस प्रकार फलोधी (मारवाड़) ने प्रतिमाधिष्ठित देव आभूषणापहारक हैं, उसी तरह यहाँ भी हैं। यदि यह तीर्थ तुम्हारा है तो शैवों का भी हो सकता है; क्योंकि यह पर्वत लिंगाकार है और गिरि-वारि धारक है। इस तरह वादविवाद हो रहा था कि कुछ वृद्धजनों ने आकर कहा अभी तो इस झगड़े

को छोड़ दो और यात्रा को चलो। वहाँ इन्द्रमाला (फूलमाला) लेते समय इसका निर्णय हो जायेगा। उस माला को जो सबसे ज्यादा धन देकर लेगा यह तीर्थ उसी का सिद्ध हो जाएगा। निदान दोनों संघ पर्वत पर गए और दोनों ने अभिषेक, पूजन, ध्वजारोहण, नृत्य, स्तुत्यादि कृत्य किए। इसके बाद जब इन्द्रमाला का समय आया, तब श्वेताम्बर भगवान के दायें और दिगम्बर बायें बैठ गए। इसी से निश्चय हो गया कि कौन हारेगा और कौन जीतेगा। इन्द्रमाल की बोली-बोली जाने लगी। एक दूसरे से अधिक बढ़ते-बढ़ते अन्त में श्वेताम्बरों ने 56 धड़ी (पसेरी) सोना देकर माला लेने का प्रस्ताव किया। दिगम्बर अभी तक तो बराबर बढ़े जाते थे, परन्तु अब वे घबराए और सलाह करने लगे। उन्होंने संघपति से कहा—

लुण्ठितैरिव भूत्वा च फलं किं तीर्थवालने।
इमं न हि समादाय शैलेशं यास्यते गृहे।।

अर्थात् इस तरह लुटकर तीर्थ लेने से क्या लाभ? क्या इस पर्वतराज को उठाकर ले चलना है। अन्त में पूर्णचन्द्र ने कह दिया कि आप ही माला पहिन लीजिए। इससे दिगम्बर मुरझा गए और अपना-सा मुँह लिए यात्रा करके नीचे उतर आए।

यह कथा यद्यपि श्वेताम्बरों की धनाढ्यता, उदारता और गिरनार पर श्वेताम्बराधिकार सिद्ध करने के मुख्य अभिप्राय से लिखी गई है, तो भी इसमें बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य है और यह सिद्ध होता है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों एक मन्दिर में उपासना करते थे और इन्द्रमाला की बोली दोनों के समूह के बीच बोली जाती थी। इससे यह भी मालूम होता है कि उस समय गिरनार के मूलनायक नेमिनाथ की प्रतिमा आभूषणों से सुसज्जित और कटिसूत्र तथा अंचलिका से भी लांछित नहीं थी। इसी तरह उदाहरण के तौर पर फलौधी तीर्थ की प्रतिमा के विषय में कहा है कि वहाँ का प्रतिमाधिठित देव भूषणापहारक है, से जान पड़ता है कि वहाँ भी उस समय (कम से कम रत्नमण्डनगणि के समय में) प्रतिमाओं को भूषणादि नहीं पहनाए जाते थे।

श्री रत्नमन्दिर गणिकृत उपदेश तरंगिणी (पृ. 148) में लिखा है—

"सौराष्ट्र देश के गोमण्डल (गोंडल) निवासी धाराक नाम के संघपति थे।

उनके 7 पुत्र, 700 योद्धा, 1300 गाड़ियाँ और 13 करोड़ अशर्फियाँ थीं। वे शत्रुंजय की यात्रा करके जब गिरनार की यात्रा को गए, जो कि 50 वर्ष से दिगम्बरों के अधिकार में था, तब उन्हें खेजार नामक किलेदार से लड़ना पड़ा और उसमें उनके सातों पुत्र और योद्धा मारे गए। उसी समय उन्होंने सुना कि गोपगिरि (ग्वालियर) के राजा आम हैं और उन्हें वप्पभट्टि ने प्रतिबोधित कर रखा है, तब वे ग्वालियर आए। उस समय वप्पभट्टि का व्याख्यान हो रहा था। स्वयं राजा और आठ श्रावक बैठे सुन रहे थे। धाराक ने दिगम्बराधिकृत गिरनार तीर्थ की हालत सुनायी। गुरु ने भी तीर्थ की महिमा का वर्णन किया। इस पर आम राजा यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि गिरनार के नेमिनाथ की वन्दना किए बिना मैं भोजन ग्रहण नहीं करूँगा। एक हजार श्रावकों ने भी यही प्रतिज्ञा की। तब राजा एक बड़े भारी संघ के साथ चल पड़े। बत्तीस उपवास करके स्तम्भ तीर्थ अर्थात् खम्भात पहुँचे। राजा का शरीर बहुत खिन्न हो गया था। यह देखकर गुरु ने अम्बिका को बुलाया और उसके द्वारा अपापमठ से एक प्रतिमा मँगवा ली और उसका दर्शन करके राजा प्रतिज्ञा मुक्त हो गए। इसके बाद एक माह तक दिगम्बरों से विवाद हुआ और अन्त में अम्बिका ने 'ऊर्जिति सेलसिहरे' आदि गाथा कहकर विवाद की समाप्ति कर दी। (गाथा में यह कहा गया है कि जो स्त्रियों की मुक्ति मानता है, वही सच्चा जैन मार्ग है और उसी का यह तीर्थ है) इस तरह तीर्थ लेकर दिगम्बर श्वेताम्बरों की प्रतिमाओं में नग्नावस्था और अञ्चलिका का भेद कर दिया।

उक्त अवतरण से दो बातें मालूम होती हैं। एक तो यह कि पहले दोनों की प्रतिमाओं में कोई भेद नहीं था और दूसरी यह कि इस घटना से पहले गिरनार पर 50 वर्ष से दिगम्बरों को अधिकार था।1

इसी उपदेशतरंगिणी (पृ. 246) में वस्तुपालमंत्री के संघ का वर्णन है, जो उन्होंने सं. 1285 में निकाला था। उसमें 24 दन्तमय देवालय, 120 काष्ट देवालय, 4500 गाड़ियाँ, 1800 डोलियाँ, 700 सुखासन, 500 पालकियाँ, 700 आचार्य, 2000 श्वेताम्बर साधु, 1900 दिगम्बर 1900 श्रीकरी (?) 4000 घोड़े, 2000 ऊँट और 7 लाख मनुष्य थे। यद्यपि यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है, तो भी इससे यह मालूम होता है कि उस समय तीर्थयात्री, पूजनार्चा आदि

कार्यों में दिगम्बर और श्वेताम्बरों में इतनी विभिन्नता नहीं थी, जितनी कि अब है। इसी कारण इस संघ में श्वेताम्बरों के साथ 1100 दिगम्बर भी गए थे। दोनों में आजकल के समान वैरभाव न था और दिगम्बर-श्वेताम्बरों की मूर्तियों में भी कोई अन्तर नहीं था। यदि अन्तर होता तो वस्तुपाल ने दिगम्बरों के लिए दिगम्बर देवालयों की व्यवस्था की होती और उनकी भी संख्या दी होती। जबकि दोनों के तीर्थ एक थे। एक ही तरह की मूर्तियों को पूजते थे। तब यह स्वाभाविक है कि तीर्थ यात्रा के संघ निकालने वाले दोनों को साथ लेकर चलें।

जान पड़ता है कि गिरिनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच वह विवाद कभी न कभी हुआ अवश्य है, जिसका उल्लेख धर्म सागर उपाध्याय ने किया है, क्योकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्य में कुछ दूसरे रूप में मिलता है। नन्दिसंघ की गुर्वावली में लिखा है–

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कार गणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती।। 36।।
ऊर्जयन्तगिरौ तेन-गच्छः सारस्वतोभवेत्!।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने।। 37।।

और भी कई जगह इस घटना का जिक्र है कि गिरनार पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों का शास्त्रार्थ हुआ और उसमें सरस्वती की मूर्ति में से ये शब्द निकलने से कि सत्य मार्ग दिगम्बरों का है, श्वेताम्बर पराजित हो गए। सरस्वती की मूर्ति को वाचाल करने वाले पद्मनन्दी भट्टारक थे। जिनका समय उक्त गुर्वावली में विक्रम संवत् 1385 से 1450 लिखा है। इनके शिष्य शुभचन्द्र और प्रशिष्य जिनचन्द्र थे।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में यही घटना इस रूप में वर्णित है कि अम्बिका देवी ने श्वेताम्बरों की जीत यह कहकर कराई कि जिस मार्ग में स्त्री को मोक्ष माना है, वही सच्चा है। जीत चाहे जिसकी हुई हो–परन्तु मालूम होता है कि उक्त विवाद हुआ था और उसी समय से दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में विद्वेष का बीज विशेष रूप से बोया गया, जिससे आगे चलकर बड़े-बड़े विषमय फल उत्पन्न हुए।

मुगल बादशाह अकबर के समय में हीरविजय नाम के एक सुप्रसिद्ध साधु

हुए हैं। अकबर उन्हें गुरुवत् मानता था। संस्कृत और गुजराती में उनके विषय में बीसों ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन ग्रन्थों में लिखा है कि हीरविजय ने मथुरा से लौटते हुए गोपाचल की बावनगजी भव्याकृति मूर्ति के दर्शन किए। यह मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदाय की है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इससे मालूम होता है कि बादशाह अकबर के समय तक भी दोनों सम्प्रदायों में मूर्ति सम्बन्धी विरोध तीव्र नहीं था। उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य तक नग्नमूर्तियों के दर्शन किया करते थे।

तपागच्छ के मुनि शीलविजय ने वि. सं. 1731-32 में दक्षिण के तमाम जैनतीर्थो की वन्दना की थी, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी तीर्थमाला (गुजराती) में किया है। उससे मालूम होता है कि उन्होंने जैनबद्री, मूडबिद्री कारकल, हूमच पद्मवती आदि तमाम दिगम्बर तीर्थों और दूसरे मन्दिरों की भक्तिभाव से वन्दना की थी। बड़े उत्साह से वे प्रत्येक स्थान की ओर मूर्तियों की प्रशंसा करते देखे जाते हैं। इससे भी मालूम होता है कि उस समय भी श्वेताम्बर साधु नग्नमूर्तियों को हेय दृष्टि से नहीं देखते थे और उनका अपने सम्प्रदाय की मूर्तियों के ही समान आदर करते थे।

ऐसा मालूम होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओं में भेद हो जाने के बाद भी बहुत समय तक दिगम्बर और श्वेताम्बरों में भाईचारा बना रहा। बहुत समय तक इस ख्याल के लोग भी दोनों सम्प्रदायों में बने रहे कि एक दूसरे के धर्मकार्यो में बाधा नहीं डालनी चाहिए और दोनों को अपने-अपने विश्वास के अनुसार पूजा, अर्चना करने देना ही सज्जनता है।

शत्रुंजय और आबू पर्वतों पर श्वेताम्बर मन्दिरों के बीचों-बीच और बगल में दिगम्बर मन्दिरों का अस्तित्व अब भी इस बात की साक्षी दे रहा है कि उस समय के वैभवसम्पन्न और समर्थ श्वेताम्बर भी यह नहीं चाहते थे कि इन तीर्थो पर हम ही रहें, दिगम्बर नहीं आने पावें।

गन्धार (भरोंच) एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। वहाँ एक पुराना दिगम्बर मन्दिर था। जब वह गिर गया और उसकी जगह नया श्वेताम्बर मन्दिर बनवाया गया तब वहाँ के श्वेताम्बर भाईयों ने दिगम्बर प्रतिमाओं को एक जुदी देवकुलिका (देवली) में स्थापित कर दिया। यह देवकुलिका अब भी विद्यमान है।

बिहार शरीफ में सन् 1901 में एक जैन मन्दिर लेखक ने स्वयं देखा है जिसके अधिकारी श्वेताम्बर हैं। उसमें एक ओर दिगम्बर वेदिका भी है। उसमें जो मूर्तियाँ हैं, उनका दर्शन पूजन दिगम्बर भाई किया करते हैं।

बेलगाँव के दोड्ड बसदि नामक जैनमन्दिर में नेमीनाथ तीर्थंकर की एक मूर्ति है। जिसे यापनीय संघ के एक श्रावक ने शक सं. 935 में प्रतिष्ठित कराया था। यह मूर्ति नग्न है और इसे अब दिगम्बर श्रावक ही पूजते हैं। इससे भी अनुमान होता है कि पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्रतिमायें भी नग्न बनाई जाती होंगी। जैन साधुओं के लिए वस्त्रधारण का सर्वथानिषेध यापनीय सम्प्रदाय में भी नहीं था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समान स्त्रीमुक्ति और केवलमुक्ति को भी वह मानता था।

कुमारपाल प्रतिबोध नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ में (जिसे सोमप्रभने वि. सं. 1241 में रचा) खपुटाचार्य की कथा में लिखा है कि–

"पहले उसने पर्वत के समीप तारा नामक बौद्धदेवी का मन्दिर बनवाया, इस कारण इस तीर्थ को तारापुर कहते हैं। इसके बाद उसी ने फिर वहीं पर सिद्धायिका (जैनदेवी) का मन्दिर बनवाया। परन्तु कालवश उसे दिगम्बरों ने ले लिया। अब वहीं पर (कुमारपाल राजा कहते हैं) मेरे आदेश से जसदेव के पुत्र दंडाधिप अभय की देखरेख में अजित जिनेन्द्र का ऊँचा मन्दिर बनवाया गया। इससे ज्ञात होता है कि कुमारपाल राजा के समय तक समूचे तारंगा पर या कम से कम सिद्धायिका देवी के मन्दिर पर दिगम्बरों का अधिकार था[3]।

भगवती आराधना की विजियोदया टीका मे एक उद्धरण आचार प्रणिधि का है और यह आचार प्रणिधि दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्याय का नाम है। उसमें लिखा है कि पात्र और कम्बल की प्रतिलेखना करना चाहिए कि वे निर्जन्तुक हैं या नहीं? और फिर कहा गया है कि प्रतिलेखन तो तभी की जायेगी, जब पात्र कम्बलादि होंगे, उनके बिना वह कैसे होगी?

सूत्रकृतांग के पुण्डरीक अध्ययन में कहा गया है कि साधु को किसी वस्त्रादि की प्राप्ति के मतलब से धर्मकथा नहीं करनी चाहिए[4]। निशीथसूत्र के दूसरे उद्देश में भी कहा है कि जो भिक्षु वस्त्र, पात्रों को एक साथ ग्रहण

करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त लेना पड़ता है[5]।

शंकाकार कहता है कि इस तरह सूत्रों में जब वस्त्र ग्रहण निर्दिष्ट है, तब अचेलता कैसे बन सकती है[6]। इसके समाधान में टीकाकार कहते हैं कि आगम में अर्थात् आचारांगादि में आर्यिकाओं को तो वस्त्र की अनुज्ञा है। परन्तु भिक्षुकों को नहीं है और जो है, वह कारण की अपेक्षा है। उस भिक्षु के शरीरावयव लज्जाकर हैं और जो परीषह सहन करने में असमर्थ है, वही वस्त्र ग्रहण करता है[7]। फिर इस बात की पुष्टि में आचारांग तथा बृहत्कल्प[8] के दो उद्धरण देकर आचारांग का एक दूसरा सूत्र बतलाया है, जिसमें मरण की अपेक्षा वस्त्रग्रहण करने का विधान है[9] और फिर उसकी टीका करते हुए लिखा है—यह जो कहा है कि हेमन्त ऋतु के समाप्त हो जाने पर परिजीर्ण उपधि को रख दे, सो इसका अर्थ यह है कि यदि शीत का कष्ट सहन न हो तो वस्त्रग्रहण कर ले और फिर ग्रीष्मकाल आ जाने पर उसे उतार दे। इसमें कारण की अपेक्षा ही ग्रहण कहा गया है। परन्तु जीर्ण को छोड़ दें। इसका मतलब यह नहीं कि दृढ़ (मजबूत) को न छोड़े। अन्यथा अचेलतावचन से विरोध आ जायेगा। वस्त्र की परिजीर्णता प्रक्षालनादि संस्कार के अभाव से कही गयी है, दृढ़ का त्याग करने के लिए नहीं[10]। यदि ऐसा मानोगे कि संयम के लिए वस्त्र ग्रहण सिद्ध है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अचेलता का अर्थ है परिग्रह का त्याग और पात्र परिग्रह है, इसलिए उसका त्याग सिद्ध है अर्थात् वस्त्र-पात्र ग्रहण करना सापेक्ष हैं जो उपकरण कारण की अपेक्षा ग्रहण किए जाते हैं, उनका जिस तरह ग्रहण का विधान है, उसी तरह उनका परिहरण भी अवश्य कहना चाहिए। इसलिए बहुत से सूत्रों में अर्थाधिकार की अपेक्षा जो वस्त्र-पात्र कहे हैं सो उन्हें ऐसा मानना चाहिए कि कारण सापेक्ष ही कहे गए हैं[11]। और जो भावना (आचारांग का 24वाँ अध्ययन) में कहा है कि भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक चीवर धारण किया और उसके बाद अचेलक हो गए सो इसमें बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ हैं। अर्थात् बहुत से विरोध और मतभेद हैं; क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि उस वस्त्र को जो वीर जिनके शरीर पर लटका दिया गया था, लटका देने वाले मनुष्य ने ही उसी दिन ले लिया था। दूसरे कहते हैं कि वह काँटों

और डालियों से उलझते-सुलझते छह मास में छिन्न-भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक बीत जाने पर खंडलक नाम ब्राह्मण ने उसे ले लिया था। और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवा से उड़ गया और भगवान ने उसकी उपेक्षा की तो लटकाने वाले ने फिर उनके कन्धे पर डाल दिया। इस तरह अनेक विप्रतिपत्तियाँ होने के कारण इस बात में कोई तत्व दिखायी नहीं देता। यदि सचेल लिंग को प्रकट करने के लिए भगवान ने वस्त्र ग्रहण किया था तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट हुआ? उसे सदा ही धारण किए रहना था। यदि उन्हें पता था कि वह नष्ट हो जायेगा तो फिर उसका ग्रहण करना निरर्थक हुआ और यदि नहीं तो वे अज्ञानी सिद्ध हुए। यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना वाञ्छनीय थी तो यह वचन मिथ्या हो जायेगा कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकर का धर्म आचेलक्य था[12]। और जो यह कहा कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ, उसी तरह पिछले जिन भी अचेलक होंगे, सो इसमें भी विरोध आयेगा। इसके सिवाय वीर भगवान के समान यदि अन्य तीर्थकरों के भी वस्त्र थे तो उनका वस्त्रत्याग काल क्यों नहीं बतलाया गया। इसलिए यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्यागकर जब जिन स्थित थे तब किसी ने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और वह एक तरह का उपसर्ग था[13]।

इसके बाद कहा है कि परिषहसूत्रों में (उत्तराध्ययन में) जो शीत, दंशमशक, तृणस्पर्श परिषहों के सहन के वचन हैं, सब अचेतन के साधक हैं, क्योंकि जो सचेल या सवस्त्र हें, उन्हें शीतादि की बाधा नहीं होती।

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में एक और जगह कहा है कि भूत और भविष्यत्काल के सभी जिन अचेलक हैं। मेरू आदि पर्वतों की प्रतिमायें और तीर्थंकर के मार्गानुयायी गणधर तथा उनके शिष्य भी उसी तरह अचेल हैं। इस तरह अचेलता सिद्ध हुई। जिनका शरीर वस्त्र से परिवेष्टित है, वे व्युत्सृष्ट प्रलम्वभुज और निश्चल जिन के सदृश जिनके प्रतिरूप नहीं हो सकते[14]।

दिगम्बरत्व की खोज से साभार

1. "सुराष्ट्रायां गोमण्डलग्रामवास्तव्यः सप्तपुत्रः सप्तशतसुभटः 13 शतशकट

संघः 13 कोटि स्वर्णपतिः सं. धाराकः श्री शत्रुञ्जय यात्री कृत्वा 50 वर्षावधि दिगम्बराधिष्ठितैरैवतयात्रावसरे खंगारदुर्गपसैन्यैः सह युद्ध 7 पुत्र 7 सुभटक्षये श्री वप्पभट्टि प्रतिबोधितगोपगिरौ श्री आमभूपतिं ज्ञात्वा तस्यामनृपस्य सूरिपार्श्वे व्याख्यानोपविष्टाष्ट श्राद्धैः समं सं. धाराकः समागतः। तेन दिगम्बर गृहीत तीर्थस्वरूपं कथितम्। गुरुभिस्तन्माहिमोक्तौ आमनृपेण गिरिनारनेमिवन्दनं विना भोजनाभिग्रहो गृहीतस्ततः संघश्चचाल। 1 लक्षं पोष्टिकानां लक्षंतुरंगमाणान, 7 शतानि गजानाम, विंशतिसहस्राणि श्रावक कुलानाम्, 32 उपवासैः स्तम्भतीर्थे प्राप्तः। राज्ञः शरीरं खिन्नम्। गुरुभिरम्बिका प्रत्यक्षीकृत्य अपापमठात् प्रतिमैका आनीता। नृपाभिग्रहो मुल्कलो जातः। मासमेकं दिगम्बरै, सह वादः पश्चादम्बिकया, 'उर्जितसैलसिहरे' ति गाथया विवादो मानः। तीर्थं लात्वा दिगम्बर श्वेताम्बर जिनार्चानां नगनावस्थाचलिका करणेन विभेदःकृतः। इतियात्रोपदेशः।

2. कवित वृन्दावन ने लिखा है–
संघसहित श्री कुन्दकुन्द गुरु वन्दन हेत गए गिरनार,
वाद परयौ तहं संशयमति सों साखी वदी अंबिकाकार।
सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर कही सुरी तहं प्रगट पुकार,
सो गुरुदेव बसौ उर मेरे, विघन हरन मंगल करतार।।
3. पं. नाथूराम प्रेमीः जैन साहित्य और इतिहास पृ. 468-477
प्र. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई (द्वितीय संस्करण) 1956
4. ण कहेज्जयो धम्मकहं तेण वत्थपत्तादिहेदुमिति।
5. कसिणाइं वत्थकम्लाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जादि मासिगं लहुगं इदि।
6. एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलकता कथं इति।
7. आर्यिकाणां आगमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया भिक्षुणाम्। हीयमानयोग्य शरीरावयवो दृश्चर्मा भिलम्बमान बीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृहणाति।
8. हिरिहेतुकं व होई देवदुगंछंति देहे जुग्गिदगे धारेज्ज सियं वत्थं परिस्सहाण च ण विहासीति।

9. द्वितीयमपिसूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणामत्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते अहं दुख एवं जाणेज्ज। पातिकंते हेमंते हिं सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पदिट्ठावेज्ज।

10. हिमसमये शीताबाधासहैः परिग्रहण चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणमपेक्ष्य ग्रहणमाख्यातम्। परिजीर्ण विशेषोपादानात् दृढानाम परित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः। प्रक्षालनादि संस्कार विरहात्परिजीर्णतावस्त्रस्य कथिता, न तु दृढ़स्य त्याग कथनार्थं पात्रप्रतिष्ठा सूत्रेणोक्तेति।

11. संयमार्थं पात्रग्रहणं सिद्धयति इति मन्यसे, नैव। अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः। गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव। तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्।

12. यच्च भावनायामुक्तं वरिस चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणो। ति तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात्। कथम्? केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बन कारिणा गृहीतमिति। अन्ये षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टक शाखादिभिरिति। साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खंलक ब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति। केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितुं जिनेनेति। अपरे वदन्ति विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति। एवं विप्रतिपतिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वं। सचेललिंग प्रकटनार्थ यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाशः इष्टः। सदा तद्धारयितव्यम्। किंच यदि नश्यतीति ज्ञातं, निरर्थकं तस्य ग्रहणं, यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं इति वचो मिथ्या भवेत्।

13. यदुक्त यथाहमचेलो तथा होउ पच्छिमो इति होक्खदिति तेनापि विरोधः। किंच जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्। एवं तु युक्तं वक्तुं। सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्तं उपसर्ग इति।

14. तीर्थकरचरितं च गुणः संहनन समग्रा मुक्तिमार्ग प्रख्यापनपरा जिनाः सर्वे

एवाचेला भूता भविष्यंतश्च। यथा मेर्वादि पर्वतगता प्रतिमास्तीर्थ–करमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेप्यचेलास्तच्छिष्याश्च। तथैवेति सिद्धमचेलत्वम्। चेलपरिवेष्टितांगो न जिनसदृशः व्युत्सृष्ट प्रलम्बभुजो निश्चलो जिनरूपतां धत्ते। भ. आ. पृ. 611

पं. नाथूराम प्रेमीः जैन साहित्य और इतिहास (द्वि. संस्करण) पृ. 61-67।

● ● ●

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रु.

वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अंक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे

यह अंक स्वाध्यायशालाओं एवं मंदिरों की माँग पर निःशुल्क

●

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

●

संपादन परामर्शदाता : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

कार्यकारी संपादक : सुभाष जैन, महासचिव, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2

प्रकाशक : श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2

मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

- Donations are exempted under the 80 G, of Income Tax Act.

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62